सत्ता और व्यक्ति

Bertrand Russell's
"Authority and the Individual

रीथ व्याख्यान-माला
१९४८-४९

अनुवादक
मोहनलाल, एम० ए०, साहित्यरत्न

प्रकाशक
रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स
चाँदनी चौक, देहली
१९५२

Originally published by
George Allen & Unwin Ltd., London

The First Reith Lectures
1948-9

ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग के इतिहास में लॉर्ड रीथ का नाम स्मरणीय है। जुलाई १६४७ में बी० बी० सी० के डाइरेक्टर-जनरल सर विलियम हेली ने उनकी अमल्य सेवाओं की स्मृति में रीथ व्याख्यान-माला की घोषणा की थी। इस वार्षिक व्याख्यान-माला में बर्ट्रेन्ड रसैल ने सर्वप्रथम ये भाषण प्रसारित किए।

वक्तव्य

इन व्याख्यानों को तैयार करने
में मुझे मेरी पत्नी पैट्रिसिया रसॅल से
विशेष सहायता मिली है—यह सहायता केवल
विवरण की नहीं, किंतु सामान्य बिचारों और हमारे युग
की परिस्थितियों के साथ उनके साम्प्रतिक संयोजन की भी है।

दो शब्द

बर्ट्रेन्ड रसॅल उन निर्भीक और स्वतंत्र विचार के व्यक्तियों में से हैं जो शासन का विरोध सहते हुए भी अपने विचारों में दृढ़ रहे हैं। वे शांति के उपासक हैं। प्रथम महायुद्ध में अपने युद्धविरोधी विचारों के कारण उनको जेल जाना पड़ा था। वे उन अंग्रेज़ों में से हैं जो स्वतंत्रता के पक्ष-समर्थक होने के कारण भारत के मित्र कहे जा सकते हैं।

श्री मोहनलाल जी ने हिन्दी में उनकी Authority and the Individual पुस्तक का अनुवाद कर हिन्दी-भाषा-भाषियों को उनकी विचार-धारा से अवगत कराया है। हिन्दी का राष्ट्र-भाषा होने के पश्चात् और भी उत्तरदायित्व बढ़ गया है। अंग्रेज़ी की भांति उसमें भी सब भाषाओं के संरक्षणीय ग्रंथ अवतरित होने की आवश्यकता है। अब वह समय आ गया है कि प्रत्येक नागरिक राजनीतिक समस्याओं को निकट से समझे। प्रस्तुत पुस्तक में राजनीतिक और अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से मनुष्य की सहज वृत्तियों (Instincts) और आवश्यकताओं का अध्ययन कर समाज का राजनीतिक विकास-क्रम दिखाया गया है, तथा राज्य और व्यक्ति के बदलते हुए सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। राजनीति की यह बड़ी समस्या है कि राज्य का संगठन अक्षुण्ण रखते हुए किस

प्रकार और किस सीमा तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता कायम रखी जाय। इस समस्या के साथ-साथ अन्य समस्याओं का जैसे गृह-उद्योग और यंत्रीकरण की सीमाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। यद्यपि इस पुस्तक में पश्चिमी राष्ट्रों के उत्थान और पतन तथा राष्ट्रीय संस्थाओं के विकास का बौद्धिक विश्लेषण है तथापि इसके अध्ययन से भारतवासी भी लाभ उठा सकते हैं। वे समस्याएँ हमारे देश में भी पैदा हो रही हैं।

रसेल महोदय स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं। वे मानव की पाशविक प्रवृत्तियों के दमन के लिए युद्ध अनिवार्य नहीं समझते। वे उत्पादन को बढ़ाकर युद्ध की संभावना को घटाने में विश्वास करते हैं। वे अति औद्योगीकरण के खतरे से हमें बचाना चाहते हैं और मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों के शांतिमय विकास में आस्था रखते हैं।

अनुवादक महोदय का हिन्दी पर बहुत अच्छा अधिकार है। रसॅल के भावों को उन्होंने सरल और सुबोध भाषा में व्यक्त किया है। ऐसी संरक्षणीय पुस्तकों के अनुवाद की आज आवश्यकता है। आशा है, पाठकगण इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे।

गुलाबराय

गोमती-निवास,
दिल्ली दरवाज़ा,
आगरा, १-१-५२

आमुख

अनुवाद के क्षेत्र में अल्डुअस हक्सले के उपन्यास Ape and Essence (पशु और मानव) के बाद यह मेरा दूसरा प्रयत्न है। यह पुस्तक श्री बर्ट्रेन्ड रसल की Authority and the Individual का रूपांतर है। अपने मूल रूप में पुस्तक लेखक के उन छः भाषणों का संकलन है जो बी० बी० सी० से उन्होंने प्रसारित किए थे। इन भाषणों में उन्होंने आधुनिक जीवन की सब से उग्र समस्या—सत्ता और व्यक्ति के संघर्ष–को अपने चिंतन का विषय बनाया है। राजनीति और अर्थशास्त्र की प्रवंचनाओं के दुर्वह भार से मनुष्य की वैयक्तिक उत्प्रेरणा की किस प्रकार रक्षा की जा सकती है, और सामाजिक संश्लिष्टता के साथ उसे किस प्रकार संयुक्त किया जा सकता है, इस पर लेखक ने इन व्याख्यानों में गंभीर विचार किया है। मनुष्य की सहज वृत्तियों और उनके परिवर्त्तित रूपों, सामाजिक संश्लिष्टता के विकास, राज्य-शासन के नियंत्रण, व्यक्ति की उत्प्रेरणा-शक्ति, यंत्रीकरण और औद्योगीकरण की समस्या आदि पर हमारे युग का विशिष्ट चिंतन इस पुस्तक में मिलेगा। रसॅल महोदय पश्चिम के उन गंभीर विचारकों में से हैं जिनके बौद्धिक चिंतन में निर्भीक स्वतंत्रता और जीवन के

तथ्य-मूल्यों को पकड़ने की विलक्षण मेधा है। उनके पास एक गणितज्ञ की मार्मिकता, एक दार्शनिक की निसंग विवेचन-शक्ति और एक विचारक की तीव्र दृष्टि है। इस पुस्तक के द्वारा मैंने हिन्दी के पाठकों को उनकी विचार-धारा से परिचित कराने का प्रयत्न किया है।

इस पुस्तक के अनुवाद का सुझाव भी रामजस कॉलेज के प्रिंसिपल श्री बंगालीभूषण जी गुप्ता का है। उनके स्नेह-वात्सल्य का मुझ पर अत्यंत ऋण है और उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए मैंने बाबू गुलाबराय जी से प्रार्थना की थी और उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। बाबू जी हमारे साहित्य के तो मर्मज्ञ आलोचक हैं ही, पर दर्शन-शास्त्र के भी विद्वान् हैं और वर्त्तमान जीवन की गति-विधि को परखने की भी उनमें शक्ति है। अतः मेरी इच्छा थी कि इस पुस्तक की भूमिका के लिए वे दो शब्द लिखें। परिशिष्ट तैयार करने में मुझे मेरे मित्र प्रो० ए० दामोदरन् से विशेष सहायता मिली है। इन सबका मेरे ऊपर आभार है।

पुस्तक प्रकाशित होने में कई कारणों से विलंब पर विलंब होता गया है। सावधानी बरतने पर भी कई अशुद्धियाँ रह गई हैं; जो बहुत ही खटकने वाली थीं उन्हें तो मैंने शुद्धि-पत्र में ले लिया है, अन्य अशुद्धियाँ विज्ञ पाठक ठीक कर लें।

पुस्तक के सुचारु प्रकाशन के लिए श्री बृजगोपाल जी के परिश्रम, और वह शीघ्र निकले इसके लिए आत्मा की आतुरता को सस्नेह स्वीकार करता हूँ।

अंग्रेज़ी विभाग, **मोहनलाल**
रामजस कॉलेज, दिल्ली।

२६ जनवरी १९५२

विषय-सूची

१. व्याख्यान

सामाजिक संश्लिष्टता और मानव स्वभाव

इन व्याख्यानों में जिस मूल समस्या पर मैं विचार करना चाहता हूँ वह यह है : किस प्रकार वैयक्तिक उत्प्रेरणा (individual initiative) की उस मात्रा को जो उन्नति के लिए आवश्यक है, सामाजिक संश्लिष्टता (Social cohesion) की उस मात्रा के साथ जो संरक्षण के लिए आवश्यक है, संयुक्त किया जा सकता है ? सब से पहले मैं मानव स्वभाव की उन प्रवृत्तियों को लूँगा जिनके कारण सामाजिक सहयोग संभव होता है। इन प्रवृत्तियों ने आदिम जातियों में जो रूप ग्रहण किए थे, उन पर मैं प्रथम विचार करूँगा, और तब उन परिवर्तित रूपों पर जो सभ्यता के विकास के कारण सामाजिक संस्थाओं में आए। इसके बाद हम देखेंगे कि किस प्रकार विभिन्न देशों और विभिन्न युगों में सामाजिक संश्लिष्टता के प्रसार में व्यापकता और गहराई आई, उसका जो रूप आज हमें मिलता है उसका

क्या विकास-क्रम है, और आगे भविष्य में उसका कौन सा रूप संभव है। जब इस पर हम विचार कर चुकेंगे कि किस प्रकार ये शक्तियाँ समाज को बांधे रखती हैं, तब मैं मनुष्य के जीवन के दूसरे पक्ष को लूँगा—उसकी वैयक्तिक उत्प्रेरणा को—और यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि मानव जाति के विकास-क्रम में इसने क्या योग दिया है, आज इसकी कितनी आवश्यकता है, तथा आगे चलकर व्यक्ति या समुदाय में इसकी मात्रा कितनी कम-अधिक हो सकती है। इसके पश्चात् मैं अपने युग की एक आधारभूत समस्या को लूँगा—वह संघर्ष जिसे आधुनिक जीवन ने समाज और मनुष्य के स्वभाव के बीच पैदा कर दिया है, दूसरे शब्दों में उत्पादन और अधिकरण (Possession) की प्रवृत्तियों से आर्थिक प्रेरणा का निर्वासन। इस समस्या को रखने के बाद इस पर भी विचार करेंगे कि उसके निराकरण के लिए क्या उपाय संभव हैं। अंत में हम यह भी देखेंगे कि नीति शास्त्र की दृष्टि से व्यक्ति के विचार, प्रयास और कल्पना का सामूहिक रूप से समाज की सत्ता के साथ क्या सम्बन्ध है।

क्या आदमी और क्या अन्य प्राणी, सभी सामाजिक जीवों में सहयोग और संगठन की भावना आँशिक रूप में आत्म-वृत्ति (instinct) में निहित है। इसकी पूर्णता चींटियों और मधु-मक्खियों में मिलती है। इनके सारे कार्य-व्यापारों में सहयोगिता और सामाजिकता होती है, और जहाँ ये रहती हैं

उन स्थानों से उनका अविच्छिन्न लगाव मिलता है। इस कर्त्तव्य-परायणता की कुछ सीमा तक प्रशंसा की जा सकती है, लेकिन इसके दोष भी हैं। चींटियाँ और मधुमक्खियाँ कला का कोई आदर्श नहीं प्रस्तुत करतीं, वे कोई वैज्ञानिक अनुसंधान नहीं करतीं और न किसी धर्म को ही प्रतिष्ठित करती हैं जो उन्हें यह शिक्षा दे कि वे परस्पर बहनें हैं। वस्तुतः उनका सामाजिक जीवन यंत्रवत् है—स्थिर और स्थावर। हमारे विकास में कहीं यह स्थावरता न आए, इस कारण हमें जीवन में विक्षोभ और अशाँति का एक अंश भी स्वीकार होता है।

आदिम मनुष्य एक दुर्बल प्राणी था, उसकी जाति विरल थी और उसका अस्तित्व संकटपूर्ण। किसी समय उसके पूर्वज पेड़ों से उतरे, पंजों के बल चलना वे भूल गये और उनके विविध प्रयोग भी उन्होंने छोड़ दिए, किंतु हाथों का प्रयोग उन्होंने सीख लिया। इन परिवर्तनों के कारण उन्हें यह ज्ञान-लाभ हुआ कि जंगलों में रहना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। किंतु अफ्रीका के बीहड़ जंगलों में खाने-पीने की जो अपार राशि थी, उतनी तो खुले मैदानों में उन्हें कहाँ उपलब्ध हो सकती थी। सर आर्थर कीथ का अनुमान है कि आदि काल में प्रत्येक आदमी को अपने भोजन के लिए लगभग दो वर्ग मील ज़मीन आवश्यक रही होगी, और कुछ दूसरे विद्वान् तो इतनी ज़मीन को भी कम ही मानते हैं। प्राचीन काल के बंदरों और उन

जातियों के अध्ययन से जो आज जीवित हैं, यह पता चलता है कि आदिम मनुष्य छोटे-छोटे समुदायों में रहा करते थे। ये समुदाय आकार में परिवार से विशेष बड़े नहीं थे—इनके सदस्यों की संख्या यही पचास और सौ के अंदर रखी जा सकती है। प्रत्येक समुदाय के अंदर सहकारिता की अत्यंत प्रबल प्रवृत्ति रही होगी, किंतु बाहर के किसी समुदाय से मुठभेड़ होने पर या संसर्ग के कारण प्रतिद्वंद्विता भी रही होगी। जब तक मनुष्य एक विरल प्राणी था और उसकी संख्या कम थी, तब तक समुदायों का परस्पर संपर्क कम ही था और उनमें मुठभेड़ के अवसर भी कम आते थे। प्रत्येक समुदाय के पास अपनी-अपनी भूमि थी और कभी आपस में उनके झगड़े हुए भी तो सीमान्तों पर। उन दिनों विवाह सम्बन्ध समुदाय के अन्तर्गत ही होते होंगे। इस आंतरिक संसग के कारण यदि किसी समुदाय की संख्या बढ़ गई और उनकी भूमि उनके लिऐ पर्याप्त नहीं रही, तो पास-पड़ोस के समुदायों से स्वभातः उनके झगड़े होने लगे होंगे। जिस समुदाय की संख्या अधिक रही होगी विजय भी उसकी निश्चित सी रही होगी, कारण उन दिनों सदस्यों की संख्या पर ही प्राय: हार-जीत निर्भर थी। सर आर्थर कीथ ने उन तथ्यों को अत्यंत सुचारु रूप से रखा है। यह तो स्पष्ट है, हमारे पूर्वजों के पास कोई निश्चित नपी-तुली रीति-नीति नहीं थी। एक प्रकार की याँत्रिक आत्म-प्रेरणा उनके सारे कार्य-व्यापारों को संचालित

किए हुये थी—समुदाय के अंतर्गत सहयोगिता और समुदाय के बाहर प्रतिद्वंद्विता की भावना। चूँकि उन दिनों समुदाय छोटे-छोटे थे, इसलिए लोगों का आपस में एक दूसरे से गहरा परिचय हो जाता था। इस परिचय के कारण सहयोगिता और मित्रता के क्षेत्र में व्यापकता का आना स्वाभाविक था।

सामाजिक संस्थाओं में परिवार ही सब से अधिक दृढ़ समुदाय है। व्यक्ति की आत्म-प्रेरणा स्वतः उसके साथ गहरी बँधी हुई है। परिवार की आवश्यकता का बोध छोटे-छोटे बच्चों के कारण हुआ और इसलिए भी कि ऐसे बच्चों की माँ रोटी जुटाने में असमर्थ थी। इस परिस्थिति ने पिता को परिवार का प्रमुख अंग बना दिया। पक्षियों की बहुत सी जातियों में भी यही देखने को मिलता है। इस प्रकार परिवारके भीतर एक तरह का श्रम-विभाजन हो गया—पुरुष के लिए शिकार और स्त्री के लिए घर। शिकार में क्षमता पारस्परिक सहयोग से ही आती है। जब इस तथ्य को लोग समझने लगे तो परिवार की परिधि में विस्तार आया और जातियों के निर्माण होने लगे, और पारस्परिक संघर्षों के कारण उन में बहुत प्राचीन-काल से ही संश्लिष्टता का विकास भी होने लग गया।

आदिम मनुष्यों और अर्द्ध-मनुष्यों के जो अवशेष मिले हैं उनसे मनुष्यता के विकास की सरणियाँ बहुत स्पष्ट हो गई हैं। वे प्राचीनतम अवशेष, जिन्हें निश्चित्‌रूप से मनुष्यों का कहा

जा सकता है, लगभग दस लाख वर्ष पुराने हैं। इससे भी लाखों वर्ष पूर्व मनुष्यों के पूर्वज पेड़ों से पृथ्वी पर उतर आए थे। मनुष्यता के विकास-क्रम का उनके मस्तिष्क की रचना के आधार पर अध्ययन किया जा सकता है। मस्तिष्क के आकार में उस प्राचीन-काल से लेकर आज से कुछ हजारवर्ष पूर्व तक निरंतर वृद्धि हो ती रही है। उसके आकार में स्थिरता आज से कुछ हज़ार वर्षों पहले आ गई थी। इन सहस्रों वर्षों में आदमी के अर्जित ज्ञान में, उसकी निपुणता-दक्षता में, उसके सामाजिक संगठन में पर्याप्त विकास हुआ है, किंतु जहाँ तक उसकी सहज बुद्धि का सम्बन्ध है वह स्थिर है। यह जीव-तत्त्वगत (Biological) विकास बहुत पहले ही अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था, जैसा कि मनुष्य की अस्थियों के अध्ययन से स्पष्ट है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी सहज मानसिक ज्ञान-राशि में (उपार्जित ज्ञान नहीं) प्रथम पाषाण-युग के व्यक्ति से बहुत अधिक अंतर नहीं है। ऐसा लगता है कि अब भी हम में वे आत्म-वृत्तियाँ काम कर रही हैं जो आदिकाल में छोटी-छोटी जातियों में रहने वाले आदमी में मिलती थीं और जिनके कारण उसके अंदर एक ओर सहयोगिता की भावना और दूसरी ओर बाह्य समुदायों के लिए तीव्र विद्वेष संचित थे। उस धूमिल अतीत से लेकर आज तक जो परिवर्तन हमारे सामाजिक संगठन में आए हैं उन्हें शक्ति ग्रहण करने के लिए कुछ तो व्यक्ति की मूल आत्म-

वृत्ति और कुछ उसकी सामूहिक हित-साधन की अचेतन वृत्ति का सहारा आवश्यक रहा होगा। मनुष्य के सामाजिक जीवन में जिन वस्तुओं के कारण व्यग्रता और विक्षोभ पैदा हो जाते हैं उनमें एक है अपने कार्य-व्यापारों के बुद्धि-संगत उपादानों से परिचित होते जाना जिन्हें हमारी सहज प्रेरणाओं से उद्भावना नहीं मिलती। ऐसे कार्य-व्यापार में जब सहज प्रेरणा पर तीव्र कशाघात करने लगते हैं तब प्रकृति अपना प्रतिशोध लेने के लिए या तो अन्यमनस्कता, और या अराजकता को जन्म देती है और इनमें से कोई भी स्थिति हमारी बुद्धि के बनाए स्तूपों को ढहा सकती है।

समुदाय के प्रति व्यक्ति की आस्था ने सामाजिक संश्लिष्टता को उत्पन्न किया, बाह्य शत्रुओं के भय से उसे बल मिला, सहज और चिंत्य व्यापारों से उसे प्रगति मिली और अंत में उसने इतनी विशालता ग्रहण की कि आज उसका हम राष्ट्र के नाम से संबोधन करते हैं। इस विकास-क्रम में अनेक शक्तियों का योग है। बहुत पहले ही समुदाय में व्यक्ति की अवस्था ने नेता के प्रति भी उसकी विश्वास-भावना को जाग्रत कर दिया होगा। इससे समुदाय की संश्लिष्टता को बल मिला होगा। बड़ी-बड़ी जातियों में राजा या नेता के प्रति लोगों का जो विश्वास मिलता है, उससे यह सिद्ध है कि वे सर्व-मान्य या बहु-मान्य रहे होंगे। व्यक्तिगत रूप से लोग भले ही आपस में परिचित न रहे

हों किंतु राजा को वे जानने लगे होंगे। इस प्रकार राज-भक्ति सामाजिक संश्लिष्टता को शक्ति देती रही होगी। इस वैयक्तिक आस्था से समुदाय का क्षेत्र भी बड़ा होता है और व्यक्ति की सहज वृत्तियाँ भी नष्ट नहीं होने पातीं।

आगे चलकर एक और परिवर्तन हुआ। पहले जो युद्ध हुआ करते थे उनका लक्ष्य इतर समुदायों को नष्ट करना था, पर धीरे धीरे कम से कम कुछ अंशों में—वे विजय के लिए होने लगे। विजित जातियाँ मौत के घाट न उतारी जाकर दास बनाई जाने लगीं, विजेता जातियों के लिए उन्हें मेहनत-मज़दूरी करने पर विवश होना पड़ा। इस स्थिति के कारण एक ही जाति में दो प्रकार के सदस्य होगए—एक वे जो उस जाति के मूल अंग थे, जिनके पास स्वतन्त्रता थी और जो अपनी जातीयता के संरक्षक थे; दूसरे वे जो विजित थे और जो भय के कारण जाति के आज्ञानुवर्ती थे न कि सहज आँतरिक आस्था के कारण। निनेवा और बेबिलोन की तूती विस्तृत प्रदेशों पर बोलती थी, इसलिए नहीं कि उनकी प्रजा में विजेता जाति के साथ सामाजिक संश्लिष्टता की आँतरिक इच्छा थी, वरन् इसलिए कि उन पर विजेताओं की शक्ति का आतँक था। उस प्राचीन काल से लेकर आज तक युद्ध जातियों की आकार-वृद्धि का प्रधान साधन रहा है, और फलतः सामाजिक संश्लिष्टता के कारण जाति में आँतरिक संगठन की जितनी अधिक मात्रा होनी चाहिए थी उसके विपरीत

वहाँ भय की उतनी ही अधिक मात्रा उत्पन्न होती गई। यह परि-वर्तन केवल बड़ी जातियों में ही नहीं आया किंतु छोटी जातियों में भी यह देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए हम स्पार्टा को ले सकते हैं जहाँ विजेता जाति की संख्या बहुत कम थी, पर हेलटों के साथ उनका व्यवहार अत्यंत निर्दय था। पुराने जमाने में स्पार्टा की उसकी अद्भुत सामाजिक संश्लिष्टता के कारण बड़ी प्रशंसा की जाती थी, किंतु उसकी सामाजिक संश्लिष्टता ने किसी भी समय रूठी जनता को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न नहीं किया; आतंक के कारण ही वहाँ राज-भक्ति रही है।

सभ्यता के विकास में किसी अवस्था पर आकर एक नवीन प्रकार की सामाजिक भक्ति का जन्म हुआ जिसका सम्बन्ध न तो भौगोलिक क्षेत्र की एकता से था और न जातीय एकता से ही, वरन् जिसका आधार मतैक्य था। जहाँ तक पश्चिम का प्रश्न है, आरंभिक जातियों में इसका आविर्भाव सर्व-प्रथम मिलता है। उनके यहाँ दासों को समान अधिकार प्राप्त थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में धर्म और शासन का इतना निकट सम्बन्ध था कि एक धर्म के अनुयायी उतने ही संश्लिष्ट होते थे जितने वे लोग जो पुरानी समुदाय-व्यवस्था से सम्बद्ध होते थे। मतैक्य की भावना दिन पर दिन दृढ़ होती गई और कालाँतर में उसकी शक्ति बहुत ही बढ़ गई। इसकी सैनिक शक्ति का प्रथम परिचय सातवीं और आठवीं शताब्दियों में इस्लाम ने दिया। क्रूसेड

और जिहादों को उत्तेजना इसी ने दी। सोलहवीं शताब्दी में धार्मिक भक्ति-भावना राष्ट्रीय भक्ति-भावना से प्रायः अधिक बलवती मिलती है। अंग्रेज कैथलिकों ने प्रायः स्पेन का साथ दिया और फ्राँस के ह्यूजनाटों ने इंगलैंड का। हमारे युग में भी ऐसे दो मत व्यापक रूप से प्रतिष्ठित हैं जिन्हें देश-विदेश में लोगों की मान्यता प्राप्त है; एक कम्यूनिज़्म है जिसके पास एक सम्प्रदाय की कट्टरता और धर्मग्रंथ की निष्ठा है, दूसरा मत इतना सुनिश्चित तो नहीं, पर प्रबल इससे कम नहीं है—इसे 'अमेरिकन-जीवन-प्रणाली' कह सकते हैं। अनेक देशों के प्रवासियों ने अमेरिका का निर्माण किया है, अतः उस राष्ट्र के पास परंपरागत जीवतत्त्व-गत एकता नहीं है, लेकिन उसकी इकाई उतनी ही पुष्ट है जितनी किसी भी यूरोपीय देश की। अब्राहम लिंकन के शब्दों में इस एकता का कारण उनकी संकल्प-निष्ठा है। अमेरिका में जो लोग आकर बस जाते हैं उन्हें प्रायः अपने देश की याद सताया करती है, किंतु उनकी संतान को इस भूमि से इतना मोह हो जाता है कि वहाँ की जीवन-प्रणाली को वे यूरोप की जीवन-प्रणाली से श्रेष्ठ मानने लगते हैं और उसमें उनकी आस्था इतनी अधिक हो जाती है कि उसके सार्वभौमिक होने में ही वे विश्व का कल्याण देखते हैं। अमेरिका और रूस दोनों देशों में सैद्धान्तिक एकता और राष्ट्रीय एकता आत्मसात् हो गई हैं और इस कारण उनमें एक प्रकार का नवीन ओज आ गया है। इन

प्रतिद्वंद्वी मतों में इतना आकर्षण है कि वे सहज ही अपने देश की सीमाओं का अतिक्रमण कर गए हैं।

इस युग में आधुनिक संस्थाओं के प्रति हमारी आस्था ने जिस दृढ़ता और आँतरिक संतोष को ग्रहण किया है वह आधार रूप में उसी प्राचीन मनोवैज्ञानिक प्रणाली को स्वीकार किए हुए है। उस आदिम काल से लेकर आज तक मनुष्य के सहज स्वभाव में कोई विशेष अंतर नहीं आया है, उसने विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, आर्थिक संस्थाओं और विज्ञापन आदि से जो ग्रहण किया है उसकी बात दूसरी है। स्वतः मानव समाज को हम दो पक्षों में बाँट देते हैं—मित्र और शत्रु; मित्र वे जिनके साथ हमारी सहकारिता की वृत्ति सम्बद्ध है, शत्रु वे जिनके साथ हमारी प्रतिद्वंद्विता है। किंतु यह विभाजन रूढ़ नहीं, इसमें सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। एक समय आदमी अपने प्रतिद्वंद्वी व्यवसायी से घृणा करता है, दूसरे समय वह उसे अपना भाई मानने लगता है, उदाहरण के लिए साम्यवाद या किसी अन्य बाह्य-शत्रु से भय होने पर। परिवार की परिधि के बाहर बाह्य शत्रु हमेशा सामाजिक संश्लिष्टता का पोषक रहा है। शाँति और सुरक्षा के समय हम अपने पड़ोसी से घृणा कर सकते हैं किंतु संकट-काल में उससे प्यार करना ही वाँछित समझा जाता है। बस में अपने पास बैठे व्यक्ति से लोग प्रायः प्यार नहीं करते,

लेकिन जब ऊपर से विध्वंस हो रहा हो तो वे एक-दूसरे के सन्निकट हो जाते हैं।

ये ही कठिनाइयाँ सार्वभौमिक एकता के मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर देती हैं। अगर एक विश्व-राज्य की सुदृढ़ स्थापना हुई तो बाह्य-शत्रुओं से भय की आशंका जाती रहेगी और तब आँतरिक संश्लिष्टता के अभाव में वह सत्ता किसी भी समय हिल सकती है। बौद्ध और ईसाई जैसे दो व्यापक धर्मों ने मनुष्य मात्र में उस पारस्परिक सहयोग की भावना का प्रचार करना चाहा है जो एक जाति के अंतर्गत तो स्वत: रहती है। इन धर्मों ने 'मनुष्यमात्र बंधु है' की शिक्षा को विश्व के सामने रखा। बंधुत्व के प्रचार करने का अर्थ हुआ बंधुत्व की परिधि के बाहर उसके लिए एक भावमूलक दृष्टिकोण का निर्माण करना, कारण मूलतः यह वृत्ति जीवतत्त्व-गत ही है। अगर हम सब ईश्वर की संतान हैं तो हम एक ही परिवार के सदस्य हुए, किंतु यह तो सिद्धांत की ही बात हुई, प्रयोग में जो हमारे मतावलंबी नहीं उन्हें हम ईश्वर की संतान मानने के लिए तैयार नहीं—वे शैतान की संतान हैं। इस प्रकार घृणा की उस प्राचीन मनोवृत्ति से, जो इतर जाति के लोगों में रहती थी, हम मुक्त नहीं हो सके; उसने तो उल्टे हमारे धर्म को दृढ़ बना दिया, यद्यपि यह दृढ़ता धर्म के मूल ध्येय से बहुत दूर जा पड़ी। धर्म, अर्थ, नीति मनुष्य जाति के संरक्षण की लगन, सार्वभौमिक संश्लिष्टता के पक्ष में ये युक्तियाँ तर्क तो

अकाट्य उपस्थित करती हैं, किंतु मनुष्य को अपने आदिम पूर्वजों से जो वृत्तियाँ विरासत में मिली हैं वे मौन नहीं रहतीं—उस एकता के विरुद्ध वे उभड़ उठती हैं मानो घृणा के बिना जीवन का रस जाता रहेगा, जो किसी भी चलते-फिरते को प्यार कर सकता है वह अपदार्थ है, जसे संघर्ष जीवन का नियम हो और संसार में अमर प्रेम की दुंदुभी बजने लगे तो यहां ज़िन्दगी बेकार है। यदि विश्व-बन्धुत्व को पृथ्वी पर कभी सार्थक होना है तो मनुष्य की आदिम बर्बरता के परितोष व शमन के लिए कुछ रास्ते निकालने ही होंगे, कुछ तो कानून की सत्ता से और कुछ ऐसे निर्दोष मार्गों को ढूंढ कर जिनसे हमारी प्रतिद्वंद्विता और स्पर्द्धा की वृत्तियों को समाधान मिल सके।

यह कोई सरल समस्या नहीं है और केवल नैतिक सिद्धांतों के आधार पर इसे हल भी नहीं किया जा सकता। मनोविश्लेषण-शास्त्र में अत्युक्तियां तो हैं और शायद अनर्गलताएं भी, किंतु इसने हमारे सामने बहुत से ऐसे तथ्य रखे हैं जो सत्य और बहुमूल्य हैं। यह तो शाश्वत सत्य है कि प्रकृति को अगर दबाया जाए तो उसे उत्तेजना मिलती है, मनोविश्लेषण इस सत्य की विशद व्याख्या भी करता है। लोग अब इस बात को जानने लगे हैं कि आंतरिक वृत्तियों का अत्यधिक विरोध करने पर ऐसी प्रतिक्रियाएं पैदा हो सकती हैं जिन से उतना ही अनिष्ट संभव है जितना वर्जित वृत्तियों के भोगने से हो सकता है। जीवन में

स्वाभाविकता की एक सीमा होती है, उसका अतिक्रमण करने से व्यक्ति में ईर्ष्या, द्वेष और अनुदारता घर कर लेती है। उसमें बर्बर क्रूरता भी उग सकती है, या ऐसी स्थिति भी पैदा हो सकती है जब वह जीवन के सारे रस को खो बैठता है और अकर्मण्य हो जाता है। इस अकर्मण्यता को हम उन जङ्गली जातियों में देख सकते हैं जो वर्तमान सभ्यता के सम्पर्क में आई है। नृ-विज्ञान के आचार्यों ने पेपुआ की कुछ ऐसी शिकारी जातियों का वर्णन किया है जिन्होंने जीवन में रुचि लेना एकदम छोड़ दिया है—श्वेत जाति के महापुरुषों ने उनके स्वच्छंद मनोरञ्जन में जो बाधा उपस्थित की है उसने उन्हें सर्वथा विमूढ़ बना डाला है। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि उन के उच्छृङ्खल आखेट पर कोई प्रतिबंध न हो, पर अच्छा होता यदि मनोविज्ञान-वेत्ता उनके लिए शिकार के स्थान पर मनोरञ्जन के निर्दोष साधन जुटा पाते। आज तो सभी स्थानों में मनुष्य की किसी न किसी अँश में पेपुआ के शिकारियों की सी दशा हो रही है। उसमें सब प्रकार की उत्तेजक और क्रियात्मक वृत्तियां मौजूद हैं, पर समाज उनमें रमने की आज्ञा नहीं देता, और उनके स्थान पर खेल-कूद, फुटबाल, कुश्ती आदि जो दूसरे रूप समाज-सम्मत हैं, उनसे व्यक्ति की वृत्तियों को पूर्ण संतोष नहीं होता। जो व्यक्ति इस बात की आशा करता है कि युद्ध को बहिष्कृत किया जा सकता है, उसे गंभीरतापूर्वक इस समस्या पर भी विचार करना

चाहिए कि आदमी को अपने आदिम पूर्वजों से जो बर्बर वृत्तियां विरासत में मिली हैं उनके परितोष के लिए कौन से निर्दोष मार्ग अपनाए जा सकते हैं। जहां तक व्यक्तिगत रुचि का प्रश्न है, मुझे तो जासूसी कहानियों में अपनी वृत्तियों के लिए पर्याप्त समाधान मिल जाता है; वहां यथाक्रम मैं खूनी और जासूस के साथ आत्मीयता स्थापित कर लेता हूँ, पर मैं जानता हूँ ऐसे बहुत से लोग हैं जिन्हें आत्मीयता के इस आरोप से संतोष नहीं होता, कारण उनकी वृत्तियों को अधिक उत्तेजना की आवश्यकता होती है।

मैं नहीं समझता कि एक साधारण व्यक्ति को प्रतिद्वंद्विता के अभाव में प्रसन्नता हो सकती है, कारण मनुष्य जाति के आदि से ही प्रतिद्वंद्विता ने उसके सारे गंभीर कार्य-व्यापारों को स्फूर्ति दी है। अतः प्रतिद्वंद्विता को आमूल नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता केवल उनके निर्दोष प्रकारांतर की है। प्राचीनकाल में प्रतिद्वंद्विता एक प्रकार की पारस्परिक बढ़ा-चढ़ी ही थी। कौन एक दूसरे के परिवार को, उसके स्त्री-बच्चों को शीघ्र ख़त्म कर सकता है; युद्ध के रूप में यह प्रतिद्वंद्विता आज भी इतनी ही भीषण है। इस प्रतिद्वंद्विता ने खेल-कूद, साहित्यिक-कलात्मक स्पर्द्धा और वैधानिक राजनीति के दाँव-पेंच में जो रूप ग्रहण कर रखे हैं, उनसे हमारी उग्र वृत्तियों को काफ़ी संतोष मिल जाता है और वे युद्ध जितने संहारक भी

नहीं होते । प्रतिद्वन्द्विता के इन रूपों में अगर कोई त्रुटि है तो यही कि वे सामान्य जनता के लिए सुलभ नहीं है ।

युद्ध की बात दूसरी है, यों आधुनिक सभ्यता ने सुरक्षा के लिए ही प्रयत्न किए हैं, लेकिन मैं नहीं समझता कि संकट और विपद को कम कर देने से जीवन सुखमय हो सकता है । इस स्थान पर सर आर्थर कीथ की पुस्तक 'मानव जाति के विकास के नव सिद्धान्त' से एक उधरण दिया जा सकता है—

"जिन लोगों ने उन पिछड़ी हुई जातियों का अध्ययन किया है जहाँ अब भी तलवार का शासन कायम है, उन सब ने इन लोगों की सुखी अवस्था का वर्णन किया है । उदाहरण के लिये फ्रेया स्टार्क ने दक्षिणी अरब के सम्बन्ध में लिखा है—'जब मुझे इस देश के उस प्राँत में पहुंचने का अवसर मिला जहां मनुष्य के लिए सुरक्षा जैसी कोई वस्तु ही नहीं है तो ऐसे लोगों से मेरा वहां सम्पर्क हुआ जिन्हें लूट-मार और मार-काट की जिन्दगी से क्लेश तो अवश्य है, पर जीवन का रस और उल्लास उनमें उतना ही मिलेगा जितना किसी भी सभ्य जाति में इस पृथ्वी पर मिल सकता है ।' डा० एच० के० फ्राई ने भी दक्षिणी आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के सम्बन्ध में अपने ऐसे ही अनुभव लिखे हैं—'जंगलों में रहने वाली जातियाँ प्रायः संकटों से घिरी रहती हैं, विपत्तियां उनका पीछा नहीं छोड़तीं, फिर भी उनके जीवन में आनन्द की धारा

सतत प्रवाहित रहती है...ये लोग अपनी सन्तान से प्रेम करना जानते हैं और अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा भी।" एक और दृष्टांत अमेरिका के क्रो इंडियन का दिया जा सकता है, जिनका डा० आर० लाउरी ने कई वर्षों तक अध्ययन किया है। वे कहते हैं—"किसी भी क्रो से पूछिए, उसे आज की सुरक्षा के जीवन और भूतकालीन संकटपूर्ण जीवन में से कौन अधिक प्रिय है, और उसका सीधा उत्तर होगा—संकटों से घिरा हुआ जीवन... कारण उसमें एक प्रकार का तीव्र आकर्षण था।' जिस बर्बर या वन्य अवस्था की ओर मैंने संकेत दिया है, उससे मेरा तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें मनुष्य अपने विकास से पूर्व आदि युगों में रहा करता था। उसी अवस्था में आदमी के स्वभाव और चरित्र का निर्माण हुआ है, अतः कोई आश्चर्य नहीं जो उसमें रक्त की प्यास और प्रतिशोध की भावना मिलती हो।"

मनोविज्ञान के ये निष्कर्ष कम से कम मेरे लिए काफी आश्चर्यजनक रहे हैं जब कि १९१४ में प्रथम-प्रथम मेरा उनसे परिचय हुआ था। बहुत से लोग शांति के दिनों की अपेक्षा युद्ध के समय अधिक प्रसन्न नज़र आते हैं, हाँ, युद्ध की विभीषिका को सीधे उनके सिर पर नहीं टूट पड़ना चाहिए। शान्तिपूर्ण जीवन से लोग प्रायः उकताने लगते हैं। एक सभ्य नागरिक को निरीह प्राणी की तरह जीवन यापन करना पड़ता है। उसके सुख-संतोष के जीवन के कारण वे साहसिक वृत्तियाँ

ही रह जाती हैं जिनकी तृप्ति के लिए आज से चार लाख वर्ष पूर्व वह जंगलों में भोजन ढूंढ़ा करता था, दुश्मन को क़त्ल कर दिया करता था और वन्य पशुओं से अपनी रक्षा करता था। युद्ध छिड़ने पर इन वृत्तियों को तृप्त करने के लिए उसे फिर अवसर मिल जाता है। बैंक के यांत्रिक जीवन से मुक्ति ले एक साधारण कर्मचारी युद्ध संचालन करने लगता है और तब उसे यह अनुभव होता है कि प्रकृति ने उसे जिस जीवन के लिए बनाया था, वह उसे अनायास प्राप्त हो गया है। पर हमारा सब से बड़ा दुर्भाग्य यही है कि विज्ञान ने हमारी उग्र वृत्तियों के संतोष के लिए जो साधन जुटाए हैं वे अत्यन्त प्रचंड और विध्वंसक हैं; उन्हें स्वतंत्र छोड़ देने पर आज मनुष्य जाति के विकास को कोई गति नहीं मिलती, यद्यपि प्राचीन काल में यह स्वतंत्रता विकास के लिए अनिवार्य थी। इन अराजक वृत्तियों के रहते हुए शांति की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है, इस समस्या पर कम विचार हुआ है, किंतु विज्ञान के युग में अब इसके प्रति उदासीन रहना असम्भव है। अगर पूर्णतः जीव-तत्व की दृष्टि से देखें तो निःसंदेह यह हमारा दुर्भाग्य है कि मनुष्य की क्रियात्मक शक्ति के विपरीत उसकी विध्वसंक शक्ति का इतना उच्छृङ्खल विकास हो गया है। एक व्यक्ति एक क्षण में पांच लाख आदमियों के प्राण ले सकता है, पर संतान के उत्पादन में अब भी उतना ही समय लगता है जितना आज से

लाखों वर्ष पूर्व लगा करता था। अगर पाँच लाख आदमियों के पैदा करने में भी उतनी ही शीघ्रता दिखाई जा सके जितनी कि अणुबम के द्वारा उन्हें समाप्त करने में दिखाई जाती है तो जीव-तत्व की इस समस्या को हम अपार हानि सहते हुए भी जीवन-संघर्ष और संरक्षण-शक्ति के लिए छोड़ देंगे। किंतु इस वैज्ञानिक युग में विकास की प्राचीन यांत्रिक प्रणाली पर अधिक विश्वास भी तो नहीं किया जा सकता।

आज समाज-सुधारकों के सामने जो प्रश्न है वह यह नहीं कि सुरक्षा के साधनों को किस प्रकार एकत्र किया जाय, चूंकि उन साधनों से यदि मनुष्य की साहसिक और उग्र वृतियों को सन्तोष नहीं मिल सका तो वह सुरक्षा टिक नहीं सकती। समस्या तो यह है कि किस प्रकार साहस, संकट और संघर्ष को वर्तमान युग के साम्प्रतिक जीवन के विधि-विधान में रखते हुए सुरक्षा की उस मात्रा के साथ संयुक्त किया जाय जो मनुष्य जाति के संरक्षण के लिए आवश्यक है। इस समस्या पर विचार करते समय यह नहीं भूल जाना चाहिए कि यद्यपि हमारे रहन-सहन, ज्ञान-विज्ञान और जीवन-यापन के प्रकारों में अनेक परिवर्तन आ गए हैं किंतु हमारी भली-बुरी वृत्तियाँ आज भी प्राय: वैसी ही हैं जैसी वे उस समय थीं जब कि आदमी के मस्तिष्क ने अपना वर्तमान आकार ग्रहण किया ही था। मैं यह नहीं मानता कि मनुष्य की आदिम वृत्तियों और आधुनिक

काल की जीवन-प्रणालियों में सामंजस्य हो ही नहीं सकता। नृ-विज्ञान के आचार्यों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संस्कृति के विभिन्न रूपों और स्तरों को मानवस्वभाव स्वीकार कर लेता है। मेरी तो यह भी धारणा है कि इन्हें साधने के लिए किसी आत्म-वृत्ति को समूल बहिष्कृत भी नहीं किया जा सकता। साहस-संकट के बिना जीवन विरस हो सकता है, लेकिन जिस जीवन को साहस-संकट के किसी भी रूप को ग्रहण करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है वह स्वयं संकट में पड़ सकता है।

इस सम्बन्ध में उस रेड इंडियन का उत्तर बहुत महत्त्व रखता है जिसके बारे में कुछ देर पहले मैंने उल्लेख किया था। प्रचीन काल का जीवन उसे इसलिए प्रिय है कि उसमें वह एक प्रकार का तीव्र आकर्षण पाता है। जिस व्यक्ति की धमनियों में रक्त का संचार तेज़ी से होता है, वह इस प्रकार के आकर्षण के लिए व्यग्र होने लगता है। कुछ लोगों को यह आकर्षण मिलता भी है, जैसे फिल्म-स्टार, विख्यात खिलाड़ी, सैनिक अफसर और कुछ थोड़े से राजनीतिज्ञ। शेष लोग तो दिवा-स्वप्न देखते रहते हैं—सिनेमा के, सनसनीखेज़ कहानियों के और कल्पित प्रभुता के। मैं दिवा-स्वप्नों को एकदम खराब भी नहीं समझता—कल्पना के जीवन के वे आवश्यक अंग हैं, किन्तु एक व्यक्ति के दीर्घ जीवन में वास्तविकता के साथ उनका कभी

सम्बन्ध ही न हो, यह स्वयं घातक हो सकता है और उस स्थिति में व्यक्ति के विवेकशून्य हो जाने की आशंका भी हो सकती है। इस यन्त्र-प्रधान युग में अब भी संभवतः कल्पना में विचरण करने वाली वृत्तियों के संतोष के लिए रास्ता निकाला जा सकता है। मनुष्य जाति की सुरक्षा और स्थायित्व के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। अगर इसकी कोई आशा न रहे तो मनुष्य की महान् विभूतियाँ विनाशकारी नीतियों की ग्रास बन जायं। अगर इस सर्वनाश को रोकना है तो मनुष्य के अन्दर के बर्बर पशु के सन्तोष के लिए रास्ता निकालना ही पड़ेगा और तभी हमारी सभ्यता की भी रक्षा हो सकती है और मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को भी परितोष मिल सकता है।

---

२. व्याख्यान

सामाजिक संश्लिष्टता और राज्य-शासन

सामाजिक संश्लिष्टता का वह प्राचीन रूप जो आज भी पिछड़ी हुई जातियों में देखने को मिलता है व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं से सम्बद्ध था और उसके लिए किसी राज्य-व्यवस्था की अपेक्षा नहीं थी। इसमें सन्देह नहीं कि उन दिनों भी जाति की अपनी रीति-प्रथाएँ थीं और उन्हें सब का मानना आवश्यक था, लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उस युग में उन्हें मनवाने के लिए पुलिस या न्यायाधीश की ज़रूरत नहीं थी कारण सामाजिक प्रथाओं की अवज्ञा करने की व्यक्ति की सहज इच्छा नहीं होती थी। जहाँ तक शासन-सत्ता का सम्बन्ध है, प्रथम पाषाण युग में जाति की वही अवस्था रही होगी जिसे आज हम अराजकता कहते हैं। वह अराजकता एक भिन्न प्रकार की थी और आधुनिक युग में उसके जिस रूप

की कल्पना की जा सकती है उससे सर्वथा वह एक भिन्न कोटि की थी क्योंकि उस युग में सामाजिक वृत्तियाँ व्यक्ति के कार्य-व्यापारों पर काफ़ी नियन्त्रण रखती थीं। नवीन पाषाण-युग में आकर समाज का रूप परिवर्तित हो चला—राज्य-व्यवस्थाएँ बनीं, नियन्त्रण के लिए अधिकारी रखे गए, तलवार के बल पर प्रजा का सहयोग लिया गया। इस उगती हुई शक्ति का परिचय तत्कालीन समाज से और उनके अद्भुत कार्यों से मिलता है। प्राचीन काल की छोटी-छोटी जातियाँ आंतरिक संश्लिष्टता के रहते हुए भी स्टोनहेंज (Stonehenge) नहीं बना सकती थीं पिरामीड की बात तो अलग छोड़िए। सामाजिक इकाई के प्रसार का मुख्य कारण युद्ध ही रहा होगा। युद्ध छिड़ने पर जातियाँ कभी-कभी समूल नष्ट हो जाती थीं। विजित जाति की भूमि विजेता जाति की सम्पत्ति हो जाती थी और इस प्रकार उसे अपनी संख्या के प्रसार के लिए क्षेत्र मिल जाता था। युद्ध से एक और लाभ भी होता था। संकट की स्थिति में कुछ जातियाँ परस्पर समझौता कर लेती थीं और यदि वह संकट एक लम्बे अर्से तक बना रहता था तो वे जातियाँ आपस में घुल-मिल भी जाती थीं। जाति की संख्या में अत्यधिक वृद्धि होने पर लोगों का पारस्परिक परिचय कम होने लगता था और ऐसी स्थिति में सामूहिक निर्णय अथवा नीति-निर्धारण के लिए एक जातीय संगठन की आवश्यकता होने लगती थी; कालान्तर में यही

संगठन एक ऐसा व्यवस्थित रूप ग्रहण कर लेता था जिसे आज हम शासन-तन्त्र के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। शासन-तन्त्र का रूढ़ रूप बनते ही कुछ लोगों की शक्ति एकदम बढ़ जाती थी। उस शक्ति की प्रबलता अधिकार क्षेत्र पर निर्भर करती थी। अतः अधिकार-लिप्सा शासन-वर्ग को युद्ध के लिए उत्तेजित करने लगी। पराजित जातियों को समूल नष्ट करने के स्थान पर जब दास-प्रथा चल पड़ी तो लोगों को युद्ध के लिए उत्तेजना का एक प्रबल साधन मिल गया। इस प्रकार बहुत प्राचीनकाल से ही सशक्त जातियाँ खड़ी होने लगीं जिनके पास समाज को संश्लिष्ट करने वाली आदिम वृत्तियाँ तो थीं ही, किन्तु एक उद्दण्ड शासन-शक्ति भी थी जिसके कारण जनता को आज्ञाकारी प्रजा बनने पर बाध्य होना पड़ता था। मिश्र का उदाहरण लें जो पूर्णतः एक ऐतिहासिक देश रहा है। वहाँ राजा का अपने देश पर एकछत्र अधिकार था। यद्यपि यह अधिकार कुछ अंशों में पुरोहितों (Priesthood) से नियन्त्रित रहता था। अपनी मातहत प्रजा से राजा सब प्रकार के राजकीय कार्य करवाने में समर्थ था जैसे पिरामिड बनाने में। ऐसी सामाजिक संस्था में उच्च स्तरों के व्यक्तियों, शासकों, धनी-मानी लोगों और पुरोहितों (Priests) के लिए ही सामाजिक संश्लिष्टता के लिए मनोवैज्ञानिक आधार आवश्यक होता था। शेष लोगों का कार्य तो आज्ञापालन मात्र था।

इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश प्रजा सुखी नहीं थी; उनकी अवस्था का ज्ञान Exodus के प्रथम प्रकरणों से हो सकता है। किन्तु यह भी सत्य है कि जब तक राज्य का बाहरी शत्रुओं से भय नहीं रहता था, प्रजा की दयनीयता देश की आँतरिक समृद्धि में अवरोध उत्पन्न नहीं होने देती थी, और सत्ताधारियों के सुख-चैन में भी कोई कमी नहीं आती थी। इस प्रकार की अवस्था दीर्घकाल तक रही होगी। इसका स्थायीत्व धार्मिकता और राजा की ईश्वरता (Divinity) के विश्वास पर निर्भर था। इनकी अवज्ञा को कुफ़ समझा जाता था और कुफ़ देवताओं के क्रोध को प्रज्वलित कर सकता था। जब तक समाज के उच्च वर्गों में यह धर्मान्धता स्थिर थी, सामान्य जनता पर अनुशासन का अँकुश रखना साधारण काम था।

यह एक विचित्र सी बात है कि सैनिक विजय से प्रायः पराजित जातियों में वास्तविक राज-भक्ति उत्पन्न हो जाती थी। रोम की अधिकांश विजयों में यही हुआ। पाँचवीं शताब्दी में जब कि रोम की शक्ति जर्जर हो चली थी तब भी गॉल रोमन साम्राज्य का पूर्ण भक्त था। प्राचीन काल के साम्राज्य सैनिक विजय से ही संगठित होते थे। साम्राज्य-स्थापना की प्रारंभिक अवस्था में यत्र-तत्र विद्रोह भी होते रहते थे, पर यदि साम्राज्य दीर्घ काल तक जीवित रहने में समर्थ होता था तो प्रजा में सामाजिक संश्लिष्टता की भावना को अंकुरित करने में उसे सफ-

लता मिल जाती थी। मध्य युग में आधुनिक स्टेटों की उत्पत्ति के समय यही स्थिति फिर से लौटी। इंग्लैंड, फ्राँस और स्पेन आदि देशों में प्रान्त विशेष के शासकों ने सैनिक विजय से राष्ट्र-संगठन करने में सफलता प्राप्त की।

प्राचीन काल में केवल मिश्र को छोड़कर सभी बड़े-बड़े राष्ट्रों को आन्तरिक संगठन के अभाव की कठिनाई थी और इसके कारण भी टेकनिकल थे। उस युग में जबकि घोड़े से तेज़ कोई सवारी नहीं थी, केन्द्रीय शासन के लिए सीमाप्रान्तों के छत्रपों और अधिकारियों को वश में रखना सरल नहीं था। ये लोग बग़ावत तो करते ही रहते थे और अवसर मिलने पर या तो सारे साम्राज्य को हड़प जाते थे या जितना पचा सकते थे उसके मालिक बन बैठते थे। सिकंदर, अत्तिला और चंगेज़ खां ने विराट् साम्राज्यों की स्थापना की थी पर उनकी मृत्यु के साथ ही वे टूटने लगे। उन साम्राज्यों की अखंडता उस समय तक स्थिर थी जब तक इन विजेताओं का लोगों पर दबदबा था। इस अखंडता का रहस्य कोई मनोवैज्ञानिक एकता नहीं किन्तु तलवार का बल था। इस सम्बन्ध में रोम ने अधिक बुद्धिमानी से काम लिया। ग्रीक-रूमी सभ्यता को शिक्षित लोग आदर की दृष्टि से देखते थे। जनता में उसकी प्रतिष्ठा थी। सीमा प्रान्तों के बाहर बर्बरता का बोल-बाला था। अतः इस सभ्यता के गौरव को लोग समझते थे। उन दिनों साम्राज्यों की एकता को बनाए

रखना अत्यन्त कठिन कार्य था; संगठन की आधुनिक पद्धतियों के अभाव में समाज के उच्च वर्गों की संश्लिष्टता के लिए किसी सामान्य (Common) मनोवृत्ति की स्थिति अत्यावश्यक थी और तभी साम्राज्य की इकाई बनी रह सकती थी। ऐसी सर्वमान्य वृत्ति को पैदा करना भी सरल नहीं था, कारण उसके उपयोग को सभी लोग समझ नहीं पाते थे। अतः सामाजिक संश्लिष्टता के लिए मनोवैज्ञानिक आधार उन दिनों और भी अधिक आवश्यक था, यद्यपि यह मनोवैज्ञानिक संश्लिष्टता अल्प-संख्यक विजयी जातियों तक ही सीमित हो सकती थी। प्राचीन जातियों के लिए सब से हित की बात थी उनकी संख्या-वृद्धि; दूसरे शब्दों में एक विशाल सेना की स्थिति। पर इस विशाल सेना को एक कठिनाई का सामना भी करना पड़ता था जिसके कारण पद-पद पर हानि उठानी पड़ती थी। देश के एक भाग से दूसरे भाग में सेना को शीघ्रतापूर्वक भेजा नहीं जा सकता था और अगर वह विद्रोह पर कटिबद्ध हो जाय तो उसके नियन्त्रण की भी कोई व्यवस्था शासन के पास न थी। ये कठिनाइयाँ कुछ अंशों में आधुनिक युग में भी बनी रहीं। पश्चिमी गोलार्द्ध में इंग्लैंड, स्पेन और पुर्तगाल के राज्य इसीलिए टूट गए क्योंकि युद्धकाल में सेना निर्दिष्ट स्थानों पर शीघ्रतापूर्वक पहुँच नहीं पाती थी। स्टीम और टेलिग्राफ के आविष्कार से राष्ट्रों के पास आज इतनी शक्ति आ

गई है कि वे अपने राज्य को सुगठित रखने में अधिक सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा के प्रसार ने जनता के अन्दर कम-से कम राजभक्ति का एक रूपक तो खड़ा कर ही दिया है।

आधुनिक संगठन-व्यवस्थाओं ने बड़े-बड़े समुदायों में आन्तरिक संश्लिष्टता के लिए मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने में योग तो दिया ही है, पर उन्होंने इन समुदायों के अस्तित्व को सैनिक और आर्थिक दृष्टियों से भी आवश्य कर दिया है। बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ तो सर्व-विदित हैं और उन पर अधिक सविस्तार विचार करना मैं आवश्यक भी नहीं समझता। इन विशाल संगठनों को पश्चिमी यूरप की एकता के लिए लोगों ने अतीव उपयोगी माना है। नील नदी ने प्राचीन काल से ही मिश्र की संश्लिष्टता को स्थिर रखने में योग दिया है, क्योंकि जिस शासन के हाथ में नील के ऊपरी भाग पर अधिकार होगा वह सहज ही नील के निचले भाग की उर्वरता को नष्ट कर कर सकता है। इसके लिए किसी विशेष टेकनिक की ज़रूरत नहीं है, किन्तु नदियों की स्थिति राष्ट्र की अन्तरंग संश्लिष्टता के साथ किस प्रकार सम्बद्ध है, यह इससे प्रकट है। Tennessee Valley Authority और प्रस्तावित St. Lawrence Water Way उसी व्यवस्था के वैज्ञानिक संस्करण माने जा सकते हैं। बिजली घरों का महत्व भी इस युग में बढ़ता जा रहा है और यदि वे क्षेत्र बहुत बड़े हों जहाँ उनसे बिजली

पहुंचाई जाती है तो उनके लाभ का कहना ही क्या है। यदि अणु-शक्ति के रचनात्मक प्रयोगों के लिए विस्तृत क्षेत्र सम्भव हुए, जो केवल कल्पना नहीं है, तो उस शक्ति के वितरण का क्षेत्र निसन्देह अत्यन्त व्यापक हो जायगा। इन आधुनिक स्कीमों से उन व्यक्तियों के हाथ में अधिक शक्ति तो आती ही है जो विशाल संगटनों (organisations) को चला रहे हैं, किन्तु वे संगठनों की उत्पादन-शक्ति में भी विस्तार करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक और आर्थिक सगठनों के आकार और अधिकार में वृद्धि होती है।

इन राजकीय व्यवस्थाओं पर अब मैं एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार करना उचित समझता हूँ। इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जनता पर शासन का नियंत्रण सदैव एक-सा नहीं रहता है, उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन केवल राज्य की सीमा और क्षेत्र से ही अपना सम्बन्ध नहीं रखते, किंतु जनता के वैयक्तिक जीवन में शासन के हस्तक्षेप से भी वे सम्बद्ध होते हैं। जिसे हम सभ्यता कहते हैं उसका जन्म सुगठित साम्राज्यों के विकास के साथ ही होता है, उदाहरण के लिए मिश्र, बेबिलोन और निनेवा के नाम लिए जा सकते हैं। अज़टेक और इन्का के साम्राज्य भी इसी कोटि में आते हैं। इन साम्राज्यों में समाज के उच्च वर्गों में तो वैयक्तिक उत्प्रेरणा प्रचुर मात्रा में मिलती थी, किंतु प्रजा का वह विशाल अंश जिसे

युद्ध में पराजित किया जाता था, इस वैयक्तिक उत्प्रेरणा से अछूता ही रहता था। पुरोहित-वर्ग का समाज के जीवन पर कितना प्रभाव रहा है, यह कोई छिपी हुई बात नहीं है। अगर धर्म ने बीच में टाँग नहीं अड़ाई तो राजा का अधिकार एकछत्र रहता था। अपनी प्रजा को युद्ध में भाग लेने पर वह विवश कर सकता था। राजा के ईश्वरत्व और पुरोहित-वर्ग की पूजा ने समाज को स्थायीत्व प्रदान किया। मिश्र इसका उदाहरण है। यह स्थायीत्व कट्टर रूढ़िवादिता से ही संभव हो सका। धीरे-धीरे इन प्राचीन साम्राज्यों में स्थावरता आगई और विदेशी आक्रमणों का सामना करने में वे असमर्थ सिद्ध हुए। कालांतर में ईरान ने उन्हें आत्मसात् कर किया और अन्त में ईरान स्वयं ग्रीकों से पदाक्रान्त हुआ।

यूनानियों ने एक नवीन प्रकार की सभ्यता को सम्पन्न बनाया था जिसका सूत्रपात फिनिशिया वालों के हाथ से हुआ था। यह सभ्यता नगर-राज्य (City state) के सामुद्रिक अधिकार और वाणिज्य-व्यापार पर आश्रित थी। ग्रीक नगरों में नागरिकों के वैयक्तिक अधिकारों के बीच बड़ी धाँधली थी; कुछ नगरों में जनता को अधिक वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी, कुछ नगरों में कम। उदाहरण के लिए स्पार्टा में यह स्वतंत्रता केवल नाम-मात्र के लिए थी। अत्याचारी राजाओं के शासन में राज्य की जड़ हिल उठती थी—स्वेच्छाचारिता के दीर्घ काल में क्रांति के

स्वर प्रायः मुखर होते रहते थे। नगर-राज्यों में विद्रोह की संभावना भी अधिक रहती थी। असंतुष्ट जनता को अपने राज्य की सीमा पार करने के लिए केवल कुछ मील तै करने पड़ते थे और फिर तो सीमांत के प्रतिद्वंद्वी नगर-राज्य उन्हें प्रश्रय देने के लिए तैयार ही रहते थे। ग्रीक सभ्यता के सम्पूर्ण जीवन में एक इस प्रकार की अराजकता फैली हुई थी जिसे हमारे युग का व्यक्ति शायद सहन भी न कर सके। किंतु इतना सदैव स्मरणीय रहेगा कि ग्रीक नगरों की जनता अपने राज्य-शासन से कितनी भी विमुख क्यों न रही हो, अपने देश की भूमि से उसका अगाध प्रेम था। उनमें देश के लिए वही भक्ति-भावना थी जो आदि-काल में लोगों के अन्दर अपनी जाति के प्रति हुआ करती थी। अपने नगरों की आराधना में वे प्राय: विवेक भी खो बैठते थे, पर देश-प्रेम की प्रगाढ़ता में कभी न्यूनता नहीं आती थी। ग्रीकों की वैयक्तिक विशिष्टता उनकी राजनीतिक अक्षमता के साथ सम्बद्ध है, क्योंकि उनका प्रबल देशानुराग जहाँ वैयक्तिक विशिष्टता का मूल रहस्य है, वहाँ ग्रीक एकता के मार्ग में वही अवरोधक भी रहा है। अतः ग्रीस का पतन हुआ; पहले तो मेसीदोनिया का उस पर प्रभुत्व हुआ और पीछे रोम का।

रोमन साम्राज्य जब अपने विस्तार पर था उसने जनता को तो वैयक्तिक स्वतंत्रता दे ही रखी थी, पर प्रांतों को भी

स्वायत्त शासन के अधिकार दे रखे थे। किंतु सम्राट् आगस्तस (Augustus) के बाद राज्य का नियंत्रण बढ़ता गया, और अंत में, खास कर टैक्स की कठोरता ने विशाल रोमन साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। जिस छोटे से भूखंड पर राज्य का अधिकार बचा उस पर भी नियंत्रण में कमी नहीं हुई। आगे चलकर जस्तीनियन (Justinian) ने इटली और अफ्रीका पर अधिकार भी किया, पर वह टिक नहीं सका और इसका भी प्रधान कारण रोमन साम्राज्य का निरंकुश नियंत्रण ही था। जिन लोगों ने एक समय रोमन सम्राट् की विशालवाहिनी को गॉथ और वन्दल जैसी आतताई जातियों से मुक्ति देने वाली उदार सेना के रूप में देखा था उसे ही उन्होंने क्रूरतापूर्वक कर वसूल करते हुए पाया।

रोमन साम्राज्य सभ्य संसार को एकता के सूत्र में पिरोने में इसलिये असमर्थ रहा कि उसकी सीमाएँ बहुत दूर-दूर तक फैली हुई थीं और दूसरे देशों को वे विदेशी लगती थीं। अतः सम्पन्न प्रजा में भी वह उल्लास का हार्दिक स्पंदन पैदा नहीं कर सका। साम्राज्य की अंतिम शताब्दियों में तो जनता घोर नैराश्य और अवसाद में डूबी हुई थी। लोग यह समझने लगे थे कि अब पृथ्वी पर जीवन-यापन के लिए कोई आकर्षण नहीं रह गया है। इस नैराश्य-भावना से ईसाई-मत को यह सहायता मिली

कि वह मनुष्य के विचारों को विश्व के भावी रूप पर केंद्रित करने की प्रेरणा दे।

रोम के पतन पर यूरप की अवस्था दयनीय हो गई। व्यवसाय कुंठित हो गया, रोमन अधिकारियों ने जिन सड़कों का निर्माण किया था उनकी अवस्था खराब हो चली, छोटे-छोटे राजे नित्य-प्रति आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। इन राजाओं ने अपनी योग्यता भर देश का शासन किया, पर एक ओर तो उन्हें उगती हुई नई ट्यूटॉनिक शक्ति से लोहा लेने के लिए सदैव तैयार रहना पड़ता था और दूसरी ओर अपनी असंतुष्ट प्रजा की मनोवृत्ति का सामना करना पड़ता था जो रोमन रंग में डूबी हुई थी। पश्चिमी यूरप से दास-प्रथा तो प्रायः उठ चली, पर उसने निम्नवर्ग (Serfdom) के कलेवर में नया रूप धारण कर लिया। अन्न से लदे हुए वे बड़े-बड़े जहाज जो अफ्रीका से रोम तक विचरा करते थे अदृश्य हो चले। राष्ट्रों के बाह्य सम्पर्क मिट गए। देश की धरती जो कुछ पैदा करती थी लोगों के जीवन-धारण का वही अवलंब शेष रह गया। जीवन-यापन एक कठोर कर्तव्य हो गया, किंतु रोमन साम्राज्य के अंतिम दिनों में जिस प्रकार का अवसाद और नैराश्य फैल गया था वह जाता रहा। अंधकारपूर्ण युगों और मध्यकाल में चारों ओर अराजकता का प्रचार था। फलस्वरूप विचारशील व्यक्तियों ने कानून की शरण ग्रहण की। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस

अराजकता ने जिस जीवन-स्पंदन को पैदा किया था, उससे कुछ अंशों में व्यवस्था लौट आई और कालांतर में महान् व्यक्तियों की परंपरा ने एक नवीन सभ्यता को जन्म दिया।

पंद्रहवीं शताब्दी से आज तक एक ओर शासन के अधिकारों में निरंतर वृद्धि होती रही है, दूसरी ओर व्यक्ति की स्वतंत्रता में ह्रास। राज्य की अधिकार-वृद्धि का कारण, सब से पहले, बारूद का आविष्कार है। जिस प्रकार अराजकता की स्थिति में विचारशील लोग कानून के पुजारी थे, उसी प्रकार राज्य की अधिकार-वृद्धि के समय वे वैयक्तिक स्वतंत्रता के भक्त हो गये। १८ वीं और १९ वीं शताब्दियों में राज्य की शक्ति इतनी बढ़ चुकी थी जितनी शासन और सुव्यवस्था के लिए आवश्यक होती है; उसने समाज की निम्नतम श्रेणियों को छोड़कर शेष नागरिकों को पर्याप्त स्वतंत्रता भी दे रखी थी। अब सुधारकों ने 'स्वतंत्रता' के स्थान पर 'समानता' पर अधिक बल देना आरंभ कर दिया है और इसका मुख्य कारण है उद्योगपतियों की बढ़ती हुई श्री-सम्पन्नता जिसके फलस्वरूप निम्न वर्गों से अपनी श्रेष्ठता को वे परंपरागत मानने लगे हैं। किन्तु आज के युग में युद्धों की व्यापकता ने लोगों पर यह प्रगट कर दिया है कि एक अत्यन्त संश्लिष्ट समाज के बिना राष्ट्र का अस्तित्व संकट में पड़ सकता है; अतः उस व्यवस्था से अब हमारा काम नहीं चल सकता जिससे हमारे पूर्वज सन्तुष्ट थे।

इस पृथ्वी के बहुत बड़े भाग में लगभग उसी प्रकार की राज्य-व्यवस्था देखने में आती है जैसी प्राचीन मिश्र में राजाओं के दैवी अधिकार (Divine Kingship) के युग में थी। आज उस व्यवस्था को एक नवीन धर्म-सत्ता ने नियंत्रित कर रखा है। यद्यपि इस व्यवस्था का पश्चिम में उतना प्रचलन नहीं हुआ है जितना पूर्व में, फिर भी उसने वहाँ के इतने विशाल भू-भाग को अपने वश में कर रखा है कि १८ वीं और १६ वीं शताब्दी में इंग्लैंड और अमेरिका के लोग उस प्रभाव को देख कर विस्मित हुए बिना नहीं रहते। वैयक्तिक उत्प्रेरणा को या तो स्टेट या शक्तिशाली कारपोरेशन अवरुद्ध कर रहे हैं और भय है, इस स्थिति में कहीं जीवन के प्रति वही उदासीनता और अकर्मण्य नियतिवाद की भावना पैदा न हो जाय जो रोमन सभ्यता के अन्तिम दिनों में समाज को अवसन्न किए हुए थी। मेरे पास इस प्रकार के पत्र प्रायः आते ही रहते हैं जिनसे लोगों की मानसिक अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। वे लिखते हैं—"संसार की स्थिति बिगड़ती जा रही है। एक साधारण व्यक्ति के बूते वह सुधरने की भी नहीं। कुछ व्यक्तियों की इच्छा पर आज जीवन की सुख-सम्पन्नता निर्भर है; उनके निर्णय युद्ध और शांति की प्रस्तावना करते हैं। उद्योग-धन्धों का संचालन भी उन्हीं के हाथ में है जो स्टेट अथवा बड़े-बड़े कारपोरेशन को अपनी मुट्ठी में किए हुए हैं। उन देशों में

भी जहाँ प्रजातंत्र की दुहाई दी जा रही है, एक व्यक्ति की आवाज़ राष्ट्र की नीति-निर्धारण में कोई महत्त्व नहीं रखती। इस स्थिति में क्या यह बेहतर नहीं होगा कि हम पब्लिक कार्यों को भुल-भाल कर अपने स्वार्थ-चिंतन में लगें और जितना आनन्द लूट सकें लूटें।" ऐसे पत्रों का उत्तर देना सरल कार्य नहीं है। मेरा यह निश्चित मत है कि जिस मानसिक अवस्था में ये पत्र लिखे जाते हैं वह सामाजिक-जीवन के लिए घातक है। शासन के सूत्रधार शासित जनता से दूर होते जा रहे हैं और उनकी एक पृथक् जाति ही बन रही है। प्रजातंत्र-राज्य इसके अपवाद नहीं हैं। मैं नहीं जानता इस बुराई से हमें किस तरह छुटकारा मिल सकता है, पर बुराई का अस्तित्व है- -इसे स्वीकार करना भी उतना ही आवश्यक है जितना उससे मुक्ति चाहना और तभी हम उससे बचने के उपाय निकाल सकते हैं।

छोटी-छोटी जातियों में पारस्परिक परिचय बना रहता था और उससे जाति-भक्ति अक्षुण्ण रहती थी। सामाजिक संश्लिष्टता की उस आत्ममूलक वृत्ति में और आधुनिक देश-भक्ति में यथार्थतः बहुत अंतर है। प्राचीन काल की भक्ति-भावना का कोई अवशिष्ट यदि आज जीवित भी है तो संसार के ऊपर छाया हुआ संकट उसे समाप्त कर देगा। एक अंग्रेज या स्कॉट की ब्रिटेन के प्रति आत्ममूलक भक्ति होती है; उसे इस बात का ज्ञान हो सकता है कि शेक्सपियर उनके देश के सम्बन्ध में क्या

कहता है; वह यह भी जानता है कि उसके द्वीप की सीमाएँ पूर्णत: नैसर्गिक हैं; अपने देश के इतिहास से, और विशेषतः उस इतिहास के गौरवपूर्ण अंशों से वह अवगत होता है; किंतु यह बात भी उससे छिपी नहीं होती कि यूरप में अन्य भाषाएँ भी बोली जाती हैं। यदि उसकी देश-भक्ति पर 'वेस्टर्न यूनियन' की भक्ति आरोपित की जाय तो इस बात की आवश्यकता हो जाती है कि वह पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के गौरव को समझे और यह भी समझे कि यह गौरव-भावना राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर समग्र पश्चिम को एक सूत्र में बाँध सकती है। इसके अतिरिक्त एक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति भी है जो इस एकता को बनाए रखने में समर्थ है और वह है बाह्य शत्रुओं से भय की आशंका। लेकिन भय की वृत्ति निषेधात्मक है और विजय के पश्चात् उसकी कर्त्तत्व-शक्ति भी नष्ट हो जाती है। यह देश-भक्ति प्रभावपूर्ण नहीं होती। अगर इसकी तुलना हम एक ग्रीक की देश-भक्ति के साथ करें तो इसमें कोई संदेह नहीं रहेगा कि साधारण जनता के हृदय पर इसका प्रभाव कितना कम होता है और अगर उसमें कभी तीव्रता आती भी है तो संकट-काल में और फिर तो वह लगभग निष्प्राण ही रहती है।

जब से शासन-व्यवस्था आरंभ हुई है, इसके दो विशिष्ट कार्य रहे हैं—एक विधेयात्मक (Positive), दूसरा निषे-

धात्मक (Negative)। इसका निषेधात्मक कार्य रहा है— राज्य-विरोधी हिंसात्मक प्रवृत्तियों का दमन करना, राष्ट्र के जन-धन की रक्षा करना, और क्रिमिनल कानून बनाना तथा उन्हें अमल में लाना; किंतु इसके अतिरिक्त उसका एक विधेयात्मक कार्य भी है और वह है जनता की प्रमुख इच्छाओं के प्रत्यक्षीकरण में सहायता देना। पहले शासन के विधेयात्मक कार्य प्रायः युद्ध-काल तक ही सीमित रहा करते थे, जैसे यदि शत्रु को जीतकर उसकी भूमि पर अधिकार किया जा सके तो विजयी राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह लाभ की बात होगी। किंतु आज शासन के विधेयात्मक कार्यों में विस्तार आ गया है। सब से पहले शिक्षा का कार्य है जिसमें केवल डिग्रियों की प्राप्ति और उनका विवरण ही नहीं आता, किंतु जनता में कुछ विशेष धारणाओं और सिद्धान्तों को उत्पन्न करना भी उसका लक्ष्य है। इन धारणाओं और सिद्धान्तों में कुछ तो स्टेट वांछनीय समझती है और कुछ धर्म-संस्थाएँ आवश्यक मानती हैं। इसके बाद वृहद् उद्योग-धंधे हैं। और स्थानों की बात छोड़िए, स्वयं अमेरिका में जहाँ स्टेट आर्थिक गति-विधियों में कम हस्तक्षेप करना चाहती हैं, शासन का उद्योग-धन्धों पर प्रतिबंध बढ़ता जा रहा है। उद्योग-धन्धे भले ही स्टेट द्वारा संचालित हों, या प्राइवेट कारपोरेशन द्वारा, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही अवस्थाओं में

स्टेट वस्तुरूप में उद्योग-धन्धों से निर्लिप्त रहती है, यद्यपि उन पर उसका नियंत्रण रहता है। वस्तुरूप में स्थिति यह है, पर अभिप्राय दूसरा हो सकता है। केवल कुछ लोगों में, भले ही वे स्टेट के हों या किसी बड़े कारपोरेशन के, वैयक्तिक उत्प्रेरणा की कोई मात्रा मिल जाती है। सरकार की तो यह मनोवृत्ति होती जा रही है कि जो लोग उसके लिए काम करते हैं वे या तो मशीन हैं या लक्ष्यपूर्त्ति के आवश्यक साधन। उद्योग-धन्धे सुचारु-रूप से संचालित होते रहे, इसलिए काम करने वालों की संख्या बढ़ती जाती है और ज्यों-ज्यों. औद्योगिक इकाइयों का आकार बढ़ता है, ऐसे लोगों की संख्या में कमी होती जाती है जिनके पास वैयक्तिक उत्प्रेरणा की कोई मात्रा रहती है। इस दृष्टि से सब से अधिक अनिष्ट आज उस व्यवस्था से हो रहा है जो ब्रिटेन के उद्योग-क्षेत्रों को काबू में किए हुए है; उस व्यवस्था में उन लोगों को भी, जिनके पास वैयक्तिक उत्प्रेरणा की मात्रा नहीं के बराबर है, निरन्तर प्रतिबन्धों में रखा जाता है और नियंत्रण रखने वाली सिविल सर्विस के पास विटो (Veto) का अधिकार तो रहता है, पर किसी कार्य को आरंभ करने की शक्ति नहीं। इस प्रकार वह एक ऐसे निषेधात्मक मनोविज्ञान को प्रश्रय देती है जो सदा प्रतिबन्धों की ओर उन्मुख रहती है। इस व्यवस्था में उत्साही व्यक्तियों के दिल बैठ जाते हैं और जो थोड़ी सी स्फूर्ति पाकर तत्पर हो सकते हैं वे अन्यमनस्क और

खिन्न होने लगते हैं। ऐसी अवस्था में स्टेट के विधेयात्मक कार्य उत्साह और योग्यता के साथ संपादित हो सकेंगे, इसमें संदेह है। संभव है, अर्थ-शास्त्रवेत्ताओं के परामर्श से आशातीत लाभ-बृद्धि हो जाय, पर उस अवस्था में इन ज्ञान-जंतुओं के वेतन की समस्या खड़ी हो जायगी। इस समय तो स्टेट की यही नीति है कि इन लोगों से दूर ही रहा जाय। इस नीति का समर्थन प्रायः वे ही लोग कर रहे हैं जिन्होंने उन बुद्धिमान माता पिताओं की आदत को ग्रहण कर लिया है जो अपने बच्चों से यही कहते रहते हैं—'यह काम मत करो'। वे कभी यह सोचना तो चाहते ही नहीं कि 'वह काम' कोई हानि भी पैदा करता है या नहीं। इन बुराइयों का उपचार उस अवस्था में बहुत ही कठिन है जब निकट नियंत्रण की कमी होती है। जैसे-जैसे उद्योग-धंधे विशाल होंगे नियंत्रण में दूरी आने की ही संभावना है।

आगे चलकर किसी व्याख्यान में मैं इस समस्या पर विचार करूँगा कि किस तरह बड़े पैमाने की उद्योग-संस्थाओं के लाभों को न खोते हुए उनके दोषों से बचने का प्रयत्न किया जा सकता है। आज तो केंद्रीयकरण की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल है; उसमें कमी तभी संभव है जब उससे देश की स्थिति संकट में पड़ जाय। तभी यह व्यवस्था टूट सकती है। यह असंभव भी नहीं, कारण पाँचवी शताब्दी में एक बार ऐसा हो चुका है। इसका परिणाम होगा देश के अन्दर अराजकता और दरिद्रता

का कोप, और यह अवस्था उस समय तक नहीं सुधरने की जब तक कि लोगों को वैयक्तिक स्वतंत्रता की वह मात्रा उपलब्ध न हो जाय जो जीवन की स्फूर्ति के लिए आवश्यक है। मैं समझता हूँ, अभी वह अवस्था पैदा नहीं हुई है, किंतु इस विपत्ति को समझने और उससे सामना करने में यदि हमने देर की तो वह अवस्था शीघ्र ही आ सकती है।

सामाजिक संश्लिष्टता के सम्बन्ध में जो परिवर्तन हमारे इतिहास में होते रहे हैं, उनका अध्ययन करते समय दो आंदोलनों पर हमारी दृष्टि जाती है।

एक ओर तो एक सामयिक आंदोलन है जो प्राचीन काल की विशृङ्खल व्यवस्था से धीरे-धीरे राज्य-शासन के रूप में विकसित हुआ है। शनैः-शनैः उसके क्षेत्र में विस्तार आया और जनता के अधिकांश कार्य-व्यापारों पर उसका नियंत्रण हुआ। इस आंदोलन की गति-विधि में एक ऐसी अवस्था आई जब जनता की सम्पन्नता और सुरक्षा में वृद्धि हुई और उसकी आदिम साहसिकता तथा ओज स्फूर्ति में भी कमी नहीं हुई; परिणाम स्वरूप सभ्यता का विकास अबाध रूप से होता रहा। किंतु जब सभ्यता का विकास रूढ़ हो जाता है, शासक को अपनी शक्ति के संगठन का अवसर मिल जाता है, रीति-रिवाज और पथ-परंपरा व्यक्ति की साहसिकता और संकट-प्रियता को कुचल डालते हैं, तो समाज में स्थावरता आ जाती है। लोग

अपने पूर्वजों की गौरव-गाथा सुनने-सुनाने में ही व्यस्त रहते हैं, उस गौरव को प्राप्त करना वे असंभव मानने लगते हैं, कला रूढ़िग्रस्त हो जाती है और विज्ञान सत्ता के हाथ में खेलने लगता है।

इस प्रकार के ऐतिहासिक विकास चीन, भारत, मिश्र, मेसोपोटामिया और ग्रीक-रोमन देशों में हुए हैं और कालांतर में उनमें स्थावरता भी आई। इस अवस्था की समाप्ति प्रायः तब होती है जब विदेशी शक्तियों के आक्रमण होने लगते हैं। ये प्राचीन राज्य अपने आदिम अस्त्र-शस्त्रों से सन्तुष्ट रहते हैं, पर विरोधी शक्तियों की नवीन शस्त्र-संचालन-क्रिया उन्हें विमूढ़ कर देती है। नवीन युद्ध-टेकनिक ही उनकी रक्षा कर सकती है, किन्तु उसे वे ग्रहण नहीं कर पाते। यदि आक्रमणकारी विजित जाति से सभ्यता में पिछड़े हुए पाए गए जैसा कि प्रायः होता ही था, तो वे एक वृहद् साम्राज्य को चलाने में असमर्थ होते थे और वाणिज्य-व्यापार में भी अयोग्य ही ठहरते थे। इसका परिणाम होता था उनकी जन-संख्या में कमी, शासन की यूनिट में संकोच, और प्रतिबन्ध-नियन्त्रण में कमज़ोरी। इस न्यूनाधिक अराजक अवस्था में जनता में उत्साह और स्फूर्ति लौट आते थे और एक नई कहानी का सूत्रपात हो जाता था।

इस सामयिक आन्दोलन के अतिरिक्त एक दूसरा विकास-

क्रम भी मिलता है। ऊपर जिस नई कहानी के सूत्रपात के संबंध में मैंने उल्लेख किया है, उसके आरम्भ होने पर स्टेट की भौगोलिक सीमा में अभूतपूर्व विस्तार होने लगता था और सत्ता का व्यक्ति पर नियन्त्रण भी अत्यधिक हो जाता था। रोमन साम्राज्य वेबिलोन और मिश्र के साम्राज्यों से बड़ा था, और आधुनिक युग में तो साम्राज्यों के सीमा-विस्तार की कोई तुलना ही नहीं है। प्राचीन काल में कोई भी ऐसा विस्तृत साम्राज्य नहीं था जिसका अपनी प्रजा पर इतना अधिक नियन्त्रण हो जितना आज सोवियत् यूनियन या पश्चिमी यूरप के अन्य देशों का अपनी प्रजा पर है।

पृथ्वी के आकार-प्रकार की सीमा है और यदि साम्राज्य-विस्तार की प्रवृत्ति को रोका नहीं गया तो एक विश्व-सत्ता की स्थापना हो सकती है। उस अवस्था में सामाजिक संश्लिष्टता की प्राचीन मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ असफल सिद्ध होंगी, क्योंकि एक विश्व सत्ता की स्थापना पर बाह्य शत्रुओं से भय की आशंका जाती रहेगी जो संश्लिष्टता को उत्पन्न करने में सहायक होती है। सार्वभौमिक शासन में देश-प्रेम के लिए कोई क्षेत्र नहीं रहेगा; और जब घृणा और भय के आधार जाते रहेंगे तो काम करने के लिए प्रेरणा स्व-हित और पर-हित की भावना से ही ग्रहण करनी होगी। क्या ऐसा समाज टिक सकता है? यदि वह टिक भी जाय तो क्या उसमें विकास हो सकता है? ये प्रश्न सरल

नहीं हैं। इन पर विचार करते समय जिन तथ्यों को सामने रखना आवश्यक है, उन्हें अन्य व्याख्यानों में स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा।

इतिहास के इस दुहरे आन्दोलन की ओर मैं संकेत कर चुका हूँ, पर यह मैं नहीं मानता कि ऐतिहासिक विकास के ये नियम सुनिश्चित और अपरिहार्य हैं। घटनाओं के विकास-क्रम में अप्रत्याशित परिवर्तन होते रहते हैं। अमेरिका के आविष्कार से ऐसा ही हुआ था। नई संस्थाओं और नई धारणाओं की उत्पत्ति से भी ऐसा हो जाता है। क्या कैथलिक धर्म की भविष्य-वाणी जुलियस सीज़र के युग का कोई रोमन कर सकता था! और किसी व्यक्ति की बात को छोड़िए, १६ वीं शताब्दी में स्वयं कार्ल मार्क्स भी सोवियत् यूनियन की कल्पना नहीं कर सकता था। अतः मनुष्य के भविष्य के सम्बन्ध में जो कल्पनाएँ की जाती हैं उन्हें अनुमान के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए, किन्तु उन पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है, इसे भी विस्मृत नहीं कर देना चाहिए।

एक निश्चित् भविष्य-वाणी कर बैठना शीघ्रता होगी और उसमें औचित्य भी नहीं होगा, पर ऐसी सम्भावनाएँ कभी-कभी दिखाई पड़ती हैं जिनसे मनुष्य का अनिष्ट हो सकता है और उन्हें ध्यान में रखना ही बुद्धिमानी है। वर्षों तक चलने वाले संहारक युद्ध उन्नत राष्ट्रों के उद्योग-धन्धों को चौपट कर सकते

हैं और उसके परिणामस्वरूप विश्व में उसी प्रकार की अराजकता फैल सकती है जो रोम के पतन के बाद पश्चिमी यूरप में फैल गई थी। इससे जन-संख्या का ह्रास तो अवश्यम्भावी है, पर उन कार्य-व्यापारों की गति भी अवरुद्ध हो जायगी जो सभ्यता के लिए नितान्त आवश्यक हैं। लेकिन यह विश्वास भी किया जा सकता है कि कालान्तर में सामाजिक संश्लिष्टता की उतनी मात्रा राष्ट्रों में लौट आवेगी जैसा कि मध्य युग में हुआ था और मनुष्य जाति का विकास फिर से आरम्भ होने लगेगा।

इन विपत्तियों के अतिरिक्त एक और संकट है जो अपेक्षा-कृत अधिक विनाशक हो सकता है। आधुनिक टेकनिकों ने शासन की नियंत्रण-शक्ति में प्रचुर वृद्धि कर दी है। एकतंत्रात्मक(Totalitarian) स्टेटों में इस शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जाता है। युद्ध की स्थिति में, या युद्ध के आतंक की स्थिति में, या एकतंत्रात्मक शासन की राज्य-लिप्सा के फल-स्वरूप, वे देश कुचल दिए जावेंगे यहाँ वैयक्तिक स्वतंत्रता की कोई मात्रा बची हुई है, और जो देश नष्ट होने से बचेंगे वहाँ भी वैयक्तिक स्वतंत्रता पर प्रबल अंकुश लग जायगा। इस बात की उम्मीद करना कि जिस नवीन शासन-व्यवस्था का जन्म होगा वह टिक नहीं सकेगी, व्यर्थ है। हाँ, वह स्थावर और गतिहीन हो सकती है। इस विपत्ति के साथ वे बुराइयाँ फिर फलने-फूलने लगेंगी जो प्राचीन-काल में कम नहीं थीं। उदाहरण के लिये—दासता,

कट्टरता, अनुदारता, और अधिकांश मनुष्यता के लिये दुःख और त्रास। इस संकट का चरितार्थ होना मेरी समझ में मनुष्यता का सब से बड़ा दुर्भाग्य है; इसके निराकरण में ही हमारी भलाई है। अतः व्यक्ति की स्वतंत्रता के महत्त्व को स्वीकार करना आज इतना आवश्यक हो गया है, जितना इतिहास में कभी नहीं हुआ था।

एक और विपद् भी है जिससे बचना ही ठीक है। इसमें तो संदेह नहीं कि इन असंख्य वर्षों में भी मनुष्य के सहज नैसर्गिक स्वभाव में शायद ही कोई परिवर्तन आया है, पर इस को नहीं भूलना चाहिये कि इस नैसर्गिक अंश की मात्रा मनुष्य के मानसिक संघटन में स्वयं बहुत ही कम है। मैंने जो धारणाएँ आपके सामने रखी हैं, उनसे यह आशय नहीं निकालना चाहिये कि युद्ध न होने पर व्यक्ति की आत्मवृत्तियाँ जड़ और अवसन्न हो जायेंगी। स्वेडन ने १८१४ से किसी युद्ध में भाग नहीं लिया है—दूसरे शब्दों में चार पीढ़ियाँ बीत गईं पर स्वेडन युद्ध से विरत है—पर इस तटस्थता के कारण स्वेडनवासी अपनी आत्मवृत्तियों के स्पंदन को खो नहीं बैठे हैं। अगर मनुष्य को युद्ध के निर्वासन में सफलता मिले तो कोई कारण नहीं जो उसे वे साधन प्राप्त न हों जिनसे उसकी साहस और संकट में सुख मानने वाली वृत्तियों को संतोष मिलता रहे। वे पुरानी पद्धतियाँ जिनसे किसी समय जीव-तत्त्व की क्रियाओं को

पोषण मिलता था आज अपना मूल्य खो बैठी हैं। नवीन पद्धतियाँ आज आवश्यक हो गई हैं। ध्यान रहे मनुष्य के स्वभाव में ऐसी कोई भी वृत्ति नहीं है जिसे अनवरत बर्बरता में सुख मिलता हो। जो थोड़ी बहुत उद्दंड वृत्तियाँ हम में हैं वे विपद्‌जनक तभी होती हैं जब या तो उन्हें ग़लत समझा जाता है, या उनके अस्तित्व को ही स्वीकृति नहीं दी जाती। इस ग़लती से यदि हम बचने की चेष्टा करें तो एक सुन्दर और सभ्य सामाजिक संविधान भी प्रतिष्ठा हो सकती है, जिसमें उन बर्बर वृत्तियों को भी सम्यक स्थान मिल सकता है।

३. व्याख्यान

वैयक्तिकता का श्रेय

इस व्याख्यान में मैं उन वृत्तियों और आकांक्षाओं के अच्छे-बुरे महत्त्व पर विचार करना चाहता हूँ जो समाज के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में मिलती हैं, पर सारे समाज से उनका सम्बन्ध नहीं होता। आदिम समाज में इन वृत्तियों और आकांक्षाओं का महत्त्व प्रायः नहीं के बराबर होता है। ऐसे समाज में लोगों के प्रायः दो ही कार्य विशेष होते हैं—शिकार और युद्ध। इनमें एक व्यक्ति दूसरे से अधिक सफल हो सकता है, पर इन कार्यों का सम्बन्ध होता सारे समाज से है। जब तक एक व्यक्ति की चेष्टाओं और कार्य-व्यापारों को सारे समाज का सहयोग और समर्थन प्राप्त है, उसकी उत्प्रेरणा-शक्ति पर समाज का प्रतिबंध कम रहता है। इसके अतिरिक्त उन दिनों लोगों के स्वच्छंद कार्य-व्यापार भी रीति-बद्ध ही होते थे। इसके विपरीत

जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है लोगों के कार्य-व्यापारों में अंतर आने लगता है। सामाजिक प्रगति के लिए उन व्यक्तियों का अस्तित्व नितांत आवश्यक है जिनके कार्य-व्यापार सामान्य-जनता के कार्य-व्यापारों से भिन्न हों। लगभग जितनी प्रगति हुई है—कलात्मक, नैतिक, बौद्धिक—इन्हीं असाधारण व्यक्तियों के कारण। मानव समाज को बर्बरता से सभ्यता की ओर गतिशील करने का श्रेय इन्हीं व्यक्तियों को है। अगर किसी समाज को उन्नति करनी है, तो उसे ऐसे असाधारण व्यक्तियों की ज़रूरत पड़ेगी जिनके कार्य-व्यापारों का उपयोगी होना तो वांछनीय है, पर सामान्य (general) नहीं। आधुनिक समाज में ऐसे असाधारण व्यक्तियों की गति-विधि में अवरोध उत्पन्न करने की प्रवृत्ति मिलती है, किंतु यदि इस प्रकार का अवरोध या नियंत्रण न रहे तो व्यक्ति की उत्प्रेरण-शक्ति जहाँ एक महान् व्यवस्थापक को पैदा कर सकती है वहाँ एक भयंकर अभियोगी को भी। सच पूछा जाय तो आवश्यकता है इस समस्या में नियमन लाने की—अत्यधिक स्वतंत्रता अराजकता लाती है, अत्यधिक नियंत्रण स्थावरता।

अपने समाज के अन्य सदस्यों से एक आदमी कई बातों में भिन्न हो सकता है। वह एक असाधारण अभियोगी या अराजकतावादी हो सकता है; उसमें धर्म और नीति का अगाध एवं नवीन ज्ञान हो सकता है; उसमें अपूर्व कलात्मक प्रतिभा

हो सकती है; उसमें बौद्धिक प्रतिभा का असामान्य विकास हो सकता है; ऐसा प्रतीत होता है जैसे मनुष्यता के इतिहास में बहुत पूर्व ही लोगों के कार्य-व्यापारों में विभिन्नता आ गई थी। पिरिनिज़ की कंदराओं में आदि पाषाण युग के जो चित्र मिलते हैं वे कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, कि और उनसे यह स्पष्ट है कि उस प्राचीन काल में भी लोगों के कार्य-व्यापारों में रुचि-विभिन्नता आने लगी थी। सब लोग तो चित्र-कला में निपुण हो नहीं सकते थे। सम्भावना इसी बात की अधिक है कि जिनमें चित्रकला की ओर रुचि थी उन्हें घर में रहकर अपनी कला को मुखरित करने की आज्ञा मिली हुई थी और शेष लोग शिकार आदि में प्रवृत्त रहते थे। नेता और पुरोहित बहुत पहले ही समाज के विशिष्ट व्यक्ति हो गए थे, वे विशेष गुणों से सम्पन्न समझे जाते थे, भले ही वे गुण उनमें हों या नहीं। इसी प्रकार लोग वैद्यों की शक्ति को अद्भुत मानते थे। नेता को जाति की स्पिरिट का अवतार माना जाता था। लेकिन इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि उसी समय से इन विशिष्ट कार्य-चेष्टाओं को संस्थाबद्ध करने की प्रवृत्ति भी चल पड़ी थी। नेतृत्व परंपरागत हो गया; वैद्यों की जाति अलग हो गई; चारण-भाट हमारे राज-कवियों के पूर्वज हो गए। समाज की प्रगति के लिए इन विशिष्ट व्यक्तियों का योग अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, पर उनकी विशिष्टता के लिए जिन गुणों का अस्तित्व आवश्यक है, उनके

उपयोग को लोग बहुत कम समझ पाते हैं; ये विलक्षण गुण हैं—बर्बरता का कुछ अंश, सामान्य व्यक्तियों से विलग रहने की प्रवृत्ति और प्रभुत्व की भावना।

इस व्याख्यान में मैं इन असाधारण व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों का विवेचन करूंगा और साथ ही उन अवस्थाओं पर भी विचार करूंगा जिनके कारण ये विशिष्ट गुण सामाजिक दृष्टि से हितकर हो सकते हैं। मैं इस सम्बन्ध में सब से पहले कला के क्षेत्र को लूंगा, तब धर्म और नीति के क्षेत्र को और अन्त में विज्ञान के क्षेत्र को।

इस युग में कलाकार का जनता के जीवन पर इतना महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं रहा है जितना प्राचीन काल में मिलता था। आज हमारे समाज में राजकवि को सम्मान की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति खत्म होती जा रही है; लोगों की ऐसी धारणा होती जा रही है कि कवि को एकांतवासी होना चाहिए, उसकी वाणी असंस्कृत समाज को कैसे अच्छी लगे। इतिहास के पन्नों में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती; इसका रूप वहाँ दूसरा है। होमर, वर्जिल और शेक्सपियर राजकवि थे; उन्होंने अपनी जाति का गौरव-गान किया है, अपनी महान् परंपरा के गुण गाए हैं। (शेक्सपियर के सम्बन्ध में यह आंशिक सत्य ही है, पर उसके ऐतिहासिक नाटकों पर यह कथन पूरी तरह लागू होता है।) वेल्स के कवियों ने आर्थर के गौरव को जीवित रखा है; अंग्रेज़

और फ्रैंच कवियों ने उस गौरव-परंपरा को आगे बढ़ाया है और हेनरी द्वितीय ने भी अपनी साम्राज्यवादी नीति के कारण उसे प्रश्रय दिया। पार्थेनान और मध्ययुगीन गिरजों के गौरव पब्लिक उद्देश्यों से सम्बद्ध थे। प्रेम-व्यापार में संगीत के महत्व को सभी लोग स्वीकार करते हैं, किंतु प्राचीनकाल में उसका प्रधान उद्देश्य रणक्षेत्र में सैनिकों को उत्साहित करना था। संगीत के इस प्रभाव के कारण प्लेटो ने उसे कानून से नियंत्रित करने की इच्छा प्रकट की है। कलाकार का यह महत्व आज हमारे जीवन से उठ गया है, यदि उसका कोई अवशिष्ट मिलता है तो शायद उस चरित्र के अस्तित्व में जो हाईलैंड की फौजी टुकड़ी में देखने को मिल जाय। कलाकार का मान तो हम आज भी करते हैं, पर हम उसे अपने जीवन से सम्बद्ध नहीं मानते। हम कला को निरपेक्ष मानने लगे हैं और समाज के जीवन से उसे अविच्छिन्न नहीं समझते। यदि कलाकार का प्राचीन महत्व आज थोड़ा-बहुत उसी रूप में अक्षुण्ण है तो वह एक शिल्पी की कला में और वह इसलिए कि उसकी कला हमारे लिए उपयोगी वस्तु है।

इस युग में कला के ह्रास का कारण केवल यही नहीं है कि आज कलाकार की सामाजिक उपयोगिता कम हो गई है; इसका एक कारण यह भी है कि आज कला में वह स्वच्छन्द उल्लास नहीं रह गया है जो 'स्वान्तः सुखाय' के लिए अनिवार्य

है। सरल निर्द्वंद्व समाज में अब भी लोक-नृत्य और लोक-गीत प्रचलित हैं और उनमें लोगों को रस भी मिलता है। पर सभ्यता के विकास के साथ औद्योगीकरण की प्रवृत्ति के कारण आदमी फ़िर्क़ों में बँट जाता है और वह सहज आनन्द जो बच्चों के लिए प्राप्य है उसे दुर्लभ हो जाता है। आनन्द के क्षण में वह अपने आपको भूल जाने में असमर्थ पाता है; कोई दूसरी चिन्ता आनन्द-प्राप्ति में बाधक हो जाती है। इस 'दूसरी चिंता' का दुर्वह भार कला के आनन्द के लिए घातक है और यदि कला के अस्तित्व को किसी भी कारण बनाए रखना है तो केवल शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना से यह सम्भव नहीं होगा; इसके लिए मनुष्य की उस सहज-शक्ति का लौटना आवश्यक है जिससे उसमें सुख-दु:ख का स्वतः स्पंदन होता है अन्यथा हमारी बुद्धि और विवेक ने तो उसे प्रायः निर्जीव ही कर दिया है।

धर्म और नीति के व्यवस्थापकों को सनातनकाल से महापुरुषों के रूप में देखा गया है। भावी सन्ततियों से उन्हें जो सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती है, वह लोगों के लिए स्पृहणीय होती है, किंतु अपने जीवन-काल में प्रायः सभी महापुरुषों को समाज से प्रताड़ित होना पड़ा है। इन महान् आत्माओं का लक्ष्य जनता का नैतिक विकास रहा है। नैतिक विकास के मूल में क्रूर प्रथाओं के उन्मूलन और मानवीय समवेदना को

विशाल बनाने की प्रवृत्ति मिलती है। जब तक समाज से बर्बर प्रथाएँ समाप्त नहीं होतीं और मनुष्य की सहानुभूति में व्यापकता नहीं आती, उसका नैतिक उत्कर्ष असम्भव है। ऐतिहासिक काल के आरम्भ में ही ग्रीक-समाज से मध्य-युगीन प्रथाएँ उठ गई थीं। स्टोइकों (Stoics) ने प्रचार किया कि सहानुभूति का पात्र केवल एक परतंत्र ग्रीक ही नहीं है, वरन् बर्बर और दास भी हैं, सारी मानवता है। बौद्ध और ईसाई मतों ने भी ऐसी शिक्षाओं का दूर-दूर तक प्रचार किया। धर्म आरम्भ में जातीय संश्लिष्टता का एक आधार रहा है; जाति के अन्दर सहयोग और बाहर प्रतिद्वंद्विता पैदा करना उसका एक लक्ष्य था, किंतु अब उसकी सहानुभूति ने नैतिकता की क्षुद्र साम्प्रदायिक सीमा का उल्लंघन कर सार्वभौमिक रूप ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। धर्म के व्यवस्थापकों ने मनुष्य के युद्ध-प्रेम और प्रतिशोध की आनन्द-भावना को मिटा देने के प्रयत्न किए हैं, अतः कोई आश्चर्य नहीं जो इन व्यवस्थापकों को उनके युग में बुरी तरह सताया गया हो। मनुष्य की आदिम क्रूरता जो अब तक एक विशिष्ट वृत्ति थी इन धर्माचार्यों द्वारा जघन्य ठहराई गई। इस प्रकार नवीन नैतिक जीवन और प्राचीन आत्म-वृत्ति-मूलक जीवन में गहन द्वैत आ गया, दूसरे शब्दों में दो प्रकार की नैतिकताओं में संघर्ष हो गया—एक वह विशाल नैतिकता जिसे मानव-कल्याण में निष्ठ संतों ने प्रचारित की थी और दूसरी वह

रूढ़िबद्ध नैतिकता जिस में व्यक्ति की समवेदना अपनी जाति तक ही सीमित थी।

धर्म और नीति के व्यवस्थापकों का मनुष्य के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है, पर शायद उतना गहरा नहीं जितना इन व्यवस्थापकों का लक्ष्य रहा है। समग्र दृष्टि से देखा जाय तो यह प्रभाव मंगल-विधायक ही हुआ है। इस शताब्दी में इन नीति-मूल्यों की प्रतिक्रिया मिलती है, और इन मूल्यों का पतन ऐसे देशों में भी मिलता है जहाँ वे प्रायः सुरक्षित माने जाते थे। पर यह आशा की जा सकती है कि यह प्रतिक्रिया अधिक समय तक स्थायी नहीं रहेगी। जो कुछ भी हो, यह सत्य है कि जिन नीति व्यवस्थापकों ने नैतिकता के आदर्श को जातीय धरातल से सार्वभौमिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में योग दिया है, उन्होंने समाज का अत्यंत हित किया है। उनके कारण आज दासता का तिरस्कार किया जाता है, युद्ध के बन्दियों के प्रति कर्तव्य-भावना दिखाई जाती है, पति और पिता के अधिकारों पर नियंत्रण होता है, और लोग यह अनुभव करते हैं कि विजित जातियों का शोषण नहीं होना चाहिए। किंतु ऐसा लगता है जैसे मनुष्य की आदिम क्रूरता उग्रतर होती जा रही हो, और नैतिकता संकट में पड़ गई हो; पर मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि जिन नीति मूल्यों के कारण हमारी नैतिक प्रगति हुई है उन से हमें अंत में हाथ धोना ही पड़ेगा।

मनुष्य की नैतिक प्रगति का सूत्रपात करने वाले संतों और महात्माओं की यद्यपि अपने जीवन-काल में प्रतिष्ठा नहीं हुई, तथापि उनका काम कभी नहीं रुका और उस पर कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा। किंतु आज अवस्था बदल गई है। सुकरात या गॉसपल (Gospel) के युग में जो बात थी वह आज नहीं रही। एक एकतंत्रात्मक स्टेट में यदि किसी व्यवस्थापक के विचार शासनसत्ता के अनुकूल नहीं है, तो उसे अपना मुँह खोलने की भी स्वतन्त्रता नहीं है। एक वीर आत्मा को जीवन का मोह न हो, पर उसे भी अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता चाहिए; यदि ऐसा न हो तो फिर वे विचार जनता तक कैसे पहुँच सकते हैं? ऐसे स्टेट में यदि नवीन व्यवस्थाएँ प्रचारित होती हैं तो केवल शासन की ओर से। शासन ऐसे किसी भी विचार को प्रश्रय नहीं देना चाहता जिससे उसके हित संकट में पड़ जायँ। एकतंत्रात्मक स्टेट में बौद्ध और ईसाई मतों के उदय की कल्पना करना असंगत है। असामान्य शक्ति के रहते हुए भी समाज-सुधारक उस स्टेट में अपना प्रभाव नहीं फैला सकता। मनुष्यता के इतिहास में यह एक नवीन तथ्य है जिसे स्टेट की आधुनिक पद्धतियों (technique) ने वैयक्तिक स्वतंत्रता को कुचल कर प्राप्त किया है। यह अवस्था उपेक्षणीय नहीं है, इससे यह सिद्ध है कि स्टेट किस प्रकार नैतिक प्रगति के लिए घातक हो सकता है।

आधुनिक युग में एक असाधारण व्यक्ति यदि अपनी प्रतिभा को कला, धर्म या नीति के क्षेत्र में लगाना चाहे तो न तो वह उतनी प्रगति ही कर सकता है जितनी प्राचीन काल में संभव थी और न उसका समाज पर उतना विशिष्ट प्रभाव ही पड़ सकता है जो उस युग के लिए एक सामान्य बात थी। आज उसकी प्रतिभा के लिए चार क्षेत्र हैं जहाँ उसे प्रसिद्धि मिल सकती है—लेनिन की तरह वह एक राजनीतिक नेता बन सकता है, रॉकफेलर की तरह वह एक महान् उद्योगपति हो सकता है; भौतिक शास्त्र-वेत्ताओं की तरह अणु-शक्ति के द्वारा वह विश्व का परिवर्तन कर सकता है, अथवा इन क्षेत्रों के लिए यदि वह अपनी प्रतिभा को हीन समझता है या उचित अवसर के अभाव में उन क्षेत्रों में उसकी गति नहीं हो पाई, तो उसकी प्रतिभा एक जघन्य अभियोगी के रूप में उसका निर्माण कर सकती है। अभियोगियों का इतिहास की गति पर कम प्रभाव पड़ता है, अतः एक महत्वाकांक्षी के लिए दूसरा क्षेत्र ही उपयुक्त होगा यदि वह उसके लिए सुलभ हो।

विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति इस युग की अपनी विशेषता है। अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्तियों की तरह वैज्ञानिकों को भी अपनी प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करना पड़ा है—उन्हें देश-निर्वासन हुआ, आग की लपटों में उन्हें सोना पड़ा, आजन्म कारावास की उन्हें सज़ा मिली, और यदि वे अधिक भाग्यशाली

ये तो अपनी पुस्तकों के अग्नि-दाह संस्कार से ही छूट गए। धीरे-धीरे स्टेट को पता चला कि वैज्ञानिक उसकी शक्ति को बढ़ा सकते हैं। फ्रैंच क्रांतिकारियों ने लावोआसिर (Lavoisier) को भूल से फाँसी के तख्ते पर लटका दिया, पर उसके साथियों से उन्होंने विस्फोटक द्रव्य बनवाने का काम लिया। आधुनिक युग में वैज्ञानिकों को सब से विशिष्ट नागरिक माना जाता है चूंकि जब युद्ध के बादल गरज रहे हों तो स्टेट का लाभ इसी में है कि वे मानवता के लिए अपनी शक्ति का उपयोग न कर अपनी स्टेट के लिए करें।

अच्छे और बुरे दोनों क्षेत्रों में हमारे युग की अन्य युगों से विशिष्टता विज्ञान के कारण है। बिजली, रेडिओ और सिनेमा हमारे दैनिक जीवन के अंग हैं। उद्योगधन्धों के लिए विज्ञान ने हमें मशीन और शक्ति (power) दी है। श्रम की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो जाने के कारण हम अपनी बढ़ी हुई शक्तियों को युद्ध में अथवा युद्ध की तैयारियों में केंद्रित कर सकते हैं। विज्ञान के ही कारण हम अपने बच्चों को अधिक काल तक स्कूलों में रख सकते हैं। विज्ञान के ही कारण हम बहुत सी झूठ-सच प्रेस और रेडिओ द्वारा जनता तक पहुँचा सकते हैं। विज्ञान के ही कारण हम उन व्यक्तियों पर अपना नियंत्रण कठोर कर सकते हैं जिन पर स्टेट प्रतिबंध रखना चाहती है। हमारे दैनिक जीवन और सामाजिक संस्था का जो रूप आज दिखाई

पड़ता है वह विज्ञान के ही कारण। इस महान् विकास को आज स्टेट का प्रश्रय प्राप्त है, पर आरंभ में इसका सूत्रपात स्टेट की इच्छा के प्रतिकूल ही हुआ था। उन देशों में, जैसे रूस में, जहाँ स्टेट ने प्राचीन नियंत्रण को फिर से अपना लिया है, विज्ञान स्टेट के अवरोध में फिर खड़ा हो सकता है; हाँ, यदि स्टेट में इतनी शक्ति है जितनी कि प्राचीन काल का एक अत्याचारी शासक सोच भी नहीं सकता था तो बात दूसरी है।

प्राचीन काल में विज्ञान का जो प्रतिरोध हुआ था उसके लिए आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। वैज्ञानिकों का समुदाय ऐसे तथ्य स्थापित करना चाहता था जो जनता के विश्वास के प्रतिकूल थे। उन्होंने परंपरागत धारणाओं को चुनौती दी, अतः समाज ने उन्हें नास्तिक ठहराया। अनक्सागोरस (Anaxagoras) ने प्रचारित किया कि सूर्य एक जलता हुआ अंगार है और चन्द्रमा हमारी पृथ्वी का टुकड़ा। इस नास्तिकता के कारण उसे अथेंस छोड़ना पड़ा, क्योंकि अब तक लोग सूर्य को देवता और चाँद को देवी माने हुए थे। वैज्ञानिकों के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में यदि उदारता आई तो इस कारण कि विज्ञान प्रकृति की शक्ति पर मनुष्य के बल को आरोपित करने में सफल हुआ; पर विज्ञान की इस शक्ति को भी आरंभ में इन्द्रजाल ही माना गया था।

इस युग में विज्ञान के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हो सकता

है। अणुबम के कारण आज मनुष्य जाति पर जो घोर संकट छाया हुआ है और जीवाणु-शास्त्रीय (bacteriological) युद्ध-पद्धति के कारण जिस महाविनाश की तैयारी हो रही है, उन्हें देखते ऐसा आंदोलन असंभव नहीं है। पर यह भी निश्चित है कि जब तक युद्ध की आशंका बनी रहेगी, लोग इन संकटों के बारे में जो चाहे सोचते रहें, उनमें इतना साहस नहीं आ सकता कि वे वैज्ञानिकों का विरोध करें। आज युद्ध की हार-जीत विज्ञान पर निर्भर है।

जहाँ तक विज्ञान ज्ञान से सम्बद्ध है, उसकी उपयोगिता निर्विवाद है, लेकिन जहाँ वह टेकनिक से सम्बद्ध है, उसकी प्रशंसा अथवा तिरस्कार टेकनिक के प्रयोग पर निर्भर है। अपने आप में विज्ञान निरपेक्ष है, न अच्छा न बुरा। उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में हम जो विचार स्थिर करते हैं, उसका आधार वास्तव में विज्ञान नहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक जीवन पर विज्ञान ने गहरा प्रभाव डाला है, पर उसका प्रभाव कुछ दृष्टियों से राजनीतिज्ञों से कम ही ठहरता है। राजनीतिज्ञों के प्रभाव में आज इतनी वृद्धि हुई है जितनी इतिहास में कभी नहीं हुई। अरेबियन नाइट्स (Arabian Nights) में जादूगर का जिन (djinn) के साथ जो सम्बन्ध मिलता है, उसी प्रकार का कुछ-कुछ सम्बन्ध आज राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों का है। जिन अद्‌भुत कार्य करता

थी, जिसकी कुछ लोगों ने प्रशंसा की और कुछ लोगों ने निन्दा पर उपेक्षा किसी ने भी नहीं। किसी भी उन्मत का स्वप्न इससे भीषण नहीं हो सकता। नेपोलियन कहा करता था कि संगीनों से सब कुछ किया जा सकता है, केवल उन पर बैठा नहीं जा सकता; पर लेनिन ने इस अपवाद को भी दूर कर दिया।

इतिहास के महान् व्यक्ति मानवता के लिए आंशिक रूप में वरदान हुए हैं, पर आंशिक रूप में शाप भी। कुछ लोगों ने, जैसे धर्म और नीति के व्यवस्थापकों ने, अपनी शक्ति भर मनुष्य की संवेदनशीलता का विस्तार किया है, उसकी क्रूरता को कम करना उनका लक्ष्य रहा है। कुछ लोगों ने, जैसे वैज्ञानिकों ने, प्रकृति की शक्तियों से हमें अवगत कराया है; उस ज्ञान का हम भले ही दुरुपयोग करें, पर उसकी विलक्षणता असंदिग्ध है। कुछ लोगों ने, जैसे कवियों, संगीतज्ञों और चित्रकारों ने, विश्व को सुषमा और सौन्दर्य की वह अजस्र राशि दी है जिससे एक निराश व्यक्ति अवसाद के क्षणों में अपनी नियति को भोगने की शक्ति ग्रहण करता है। इन महान् व्यक्तियों के विपरीत कुछ ऐसे व्यक्ति भी पैदा हुए हैं जिनकी योग्यता और शक्ति कम नहीं थी, किंतु जिनके कार्य दूसरे ढंग के थे। मुझे नहीं मालूम, चंगेज़ खाँ के पैदा होने से मनुष्यता को क्या लाभ हुआ है। मैं नहीं जानता, रोबसपियेर (Robespierre)

से हमें क्या मिला है; और जहाँ तक मेरी अपनी बात है मुझे तो ऐसा कोई कारण नहीं दिखता जिसके लिए लेनिन का कृतज्ञ हुआ जाय। लेकिन इन सभी प्रकार के व्यक्तियों में, अच्छे और बुरे दोनों में, ऐसे गुण मिलते हैं जिनका पृथ्वी से उठ जाना मैं वाँछनीय नहीं समझता—वे हैं उनकी स्फूर्ति और वैयक्तिक उत्प्रेरणा, स्वतंत्र चिंतन और कल्पना-शक्ति। जिस व्यक्ति में ये गुण होते हैं वह संसार को अत्यधिक लाभ या अत्यधिक हानि पहुँचा सकता है और यदि मनुष्यता को गहरे अवसाद और ऊब में नहीं डूबना है तो इन असाधारण व्यक्तियों को अपने आत्म-प्रकाशन के लिए क्षेत्र मिलना ही चाहिए और हमारी तो यही कामना है कि वह क्षेत्र शुभ हो। एक अभियोगी और एक राजनीतिज्ञ की प्रकृति में लोग काफ़ी अन्तर समझते हैं, पर यह अन्तर कम भी हो सकता है। अगर किसी जादूगर ने कैप्टेन किड और सिकन्दर महान् को उनके जन्म पर अदल-बदल कर दिया होता तो संभव है, वे अपने जीवन में एक दूसरे के कार्य को पूरा कर गये होते। यही बात कलाकारों के सम्बन्ध में लागू होती है, बेनवेनुतो सेलिनी (Benvenuto-Cellene) का चरित्र ऐसे व्यक्ति का चित्र हमारे सामने नहीं रखता जिसमें कानून के लिए वह सम्मान मिलता हो जो एक कर्त्तव्यपरायण नागरिक में होना चाहिए। आज की दुनिया में, और जहाँ तक अनुमान है आज से अधिक कल की दुनिया में,

वही व्यक्ति सफल हो सकता है जो किसी विशाल संगठन (organisation) पर कब्ज़ा कर सके। अगर वह लेनिन की तरह किसी स्टेट का अध्यक्ष या रॉकफेलर की तरह विराट् उद्योगपति या पियरपाँत मॉरगेन (ज्येष्ठ) की तरह धनाढ्य हो सके तो संसार में उसकी तूती बोल सकती है, या उसकी धूम तब हो सकती है जब वह एक वैज्ञानिक हो और स्टेट को यह विश्वास दिला सके कि उसकी योग्यता युद्ध में उपयोगी सिद्ध होगी। लेकिन जो व्यक्ति आज बिना किसी वृहद् संस्था की सहायता के अपना प्रभाव संसार पर डालना चाहता है, उसकी सफलता संदिग्ध है। हिब्रू संतों, प्राचीन कवियों और स्पिनोज़ा जसे एकांतवासी दार्शनिकों के प्रभाव के दिन आज खत्म हो गए हैं। परिवर्तन का यह नियम जितना अन्य लोगों पर लागू होता है, उतना ही वैज्ञानिकों पर। प्राचीनकाल में वैज्ञानिक अपना कार्य स्वतन्त्र रूप से करते थे—एक वैज्ञानिक अपने आप में एक इकाई था—पर आज उसका काम प्रयोगशाला और मूल्यवान् साधनों के बिना नहीं चल सकता। ये वस्तुएँ या तो उसे गवर्नमेंट की कृपा से उपलब्ध होती हैं या अमीर आदमियों की मदद से जैसे अमेरिका में। अतः वह आज एक स्वतन्त्र इकाई नहीं है, किसी संस्था का अविच्छिन्न अंग है। वैज्ञानिक के जीवन में इस परिवर्तन का आना हमारे लिए दुर्भाग्य का ही विषय है, कारण जो कार्य व्यक्ति अपने आप करता है वह

उस कार्य की अपेक्षा मनुष्यता के लिए अधिक मंगलकारी हो सकता है जिसमें अनेक स्रोतों की सहायता निहित होती है। जो व्यक्ति मनुष्य के कार्य-व्यापारों को प्रभावित करना चाहता है, उसे सफल होने की आशा कम ही रखनी चाहिए जब तक कि वह अत्याचारी या गुलाम न हो। एक राजनीतिज्ञ होकर वह स्टेट का प्रधान बन सकता है या एक वैज्ञानिक होकर गवर्नमेंट के हाथ अपनी मेहनत को बेच सकता है पर उस अवस्था में वह स्टेट की लक्ष्य-पूर्ति का साधन होगा, स्वतन्त्र कार्य करने का उसे कोई अधिकार नहीं रहेगा।

इस तथ्य का सम्बन्ध केवल असाधारण प्रतिभा के व्यक्तियों से ही नहीं होता, वरन् सामान्य योग्यता के व्यक्तियों से भी होता है। प्रतिभाशाली कवियों के युग में साधारण कवियों की कमी नहीं होती और महान् चित्रकारों के युग में साधारण चितेरे भी होते हैं। जर्मनी में विशिष्ट संगीतज्ञों का उदय तभी हुआ था जब कि लोगों को संगीत से प्रेम था और समाज में साधारण गायकों की प्रतिष्ठा थी। उन दिनों संगीत, कविता और चित्रकला साधारण लोगों के जीवन के अंग थे, उसी तरह जैसे आज स्पोर्ट (sport) है। महान् सिद्ध और संत वे ही व्यक्ति थे जो साधारण सिद्धों और संतों से विशिष्ट थे। इन सब बातों में हमारे युग की हीनता का कारण यह है कि आधुनिक समाज के संगठन में वैयक्तिक उत्प्रेरणा की मात्रा अत्यन्त अल्प है। कला

की प्रगति के लिए पारस्परिक प्रतियोगिता वांछित है। प्राचीन काल में कला का विकास उन्हीं जातियों में हुआ था जिनमें प्रतियोगिता की स्पिरिट थी, जसे ग्रीस के नगर-राज्यों में, इटली के सांस्कृतिक व साहित्यिक पुनरुत्थान-युग के राज्यों में, और १८ वीं सदी के जर्मन राजाओं के दरबारों में। प्रत्येक राजा के पास अपना एक संगीतज्ञ था और एक प्रकार से वह जॉन सेबाश्चियन बाख़ (Johann Sebastian Bach) ही था। यदि उसकी स्थिति पूर्णरूप से बाख़ की सी नहीं थी तो भी उसे अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। स्थानीय प्रतियोगिता में कुछ ऐसी विशेषता होती है जो इन बातों के लिए आवश्यक है। गिरजों के निर्माण में भी प्रतियोगिता की इस प्रवृत्ति ने काम किया है। प्रत्येक बिशप अपने पड़ोसी बिशप से सुन्दर और भव्य गिरजा बनवाना चाहता था। शहरों में यदि कलात्मक गौरव की भावना का विकास हो सके तो अच्छी ही बात है। प्रत्येक शहर में संगीत और चित्र-कला के प्रतिष्ठित केंद्रों का खुलना स्पृहणीय है, पर उनमें दूसरे शहरों के कला-केंद्रों के प्रति घृणा और अनादर नहीं होना चाहिए। मुश्किल यह है कि यह स्थानीय गौरव-भावना विशाल साम्राज्यों में नहीं पनपती। मैनचेस्टर के आदमी में शैफिल्ड के आदमी के प्रति आज वह स्पर्द्धा नहीं मिलती जो प्राचीन काल में एक अथेंसवासी में कारिंथवासी के प्रति या एक फ्लोरेंस-वाले में वेनिस-वाले के

प्रति मिला करती थी। यदि मनुष्य के जीवन में नीरसता और उदासीनता को घर नहीं कर लेना है तो हमें इन छोटे-छोटे स्थानों के महत्त्व को स्वीकार करना होगा।

आदिम युग में व्यक्ति एक छोटे से समुदाय का अंग था, किंतु उसकी वैयक्तिक उत्प्रेरणा पर समाज की ओर से कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं था। जिन कार्यों में वह दिलचस्पी लेता था, वे ही समाज को प्रिय थे—शिकार और युद्ध। किंतु यदि उसकी वैद्य होने की इच्छा हुई तो उस पर कोई रोक-टोक नहीं थी। वह उस विषय का ज्ञान प्राप्त कर वैद्य हो सकता था। यदि उसकी प्रतिभा असाधारण हुई तो वह अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में या शिकार की कला में कोई उन्नति कर सकता था। उसके इन कार्यों का समाज में विरोध नहीं होता था; वे तो अभिनंदनीय थे। आधुनिक काल में व्यक्ति का जीवन बदल गया है। आज यदि वह सड़क पर गाने लगे तो उसे शराबी माना जाता है; यदि वह नाचने लगे तो पुलिस उसे अपने चारों ओर भीड़ इकट्ठी करने के कारण डाँट सकती है। यदि वह बहुत ही भाग्यशाली है तो बात दूसरी है, अन्यथा उसके काम करने के घंटे मनहूसियत में ही कटते हैं। उन घंटों में उससे अचिलिज़ की ढाल तैयार करने के लिये नहीं कहा जाता—वह ढाल जो सौंदर्य का प्रतीक है—वह तो ऐसे काम में व्यस्त रहता है जिनका उपयोगिता से सम्बन्ध होता है। काम समाप्त

होने पर मिल्टन के गड़ेरिए की तरह उसे किसी रमणीय उपत्यका में नागफनी के नीचे बैठकर अपनी बात कहने की सुविधा भी नहीं मिलती, क्योंकि जहाँ वह रहता है उसके आस-पास कोई उपत्यका नहीं दिखती और यदि कोई उपत्यका हुई भी तो टिनों से भरी हुई। आज जीवन इतना नियंत्रित हो गया है कि कल की चिंता ही उसकी कमर तोड़े डाल रही है। गॉस्पेल की शिक्षाओं में जिस धर्माज्ञा की हमने सब से अधिक अवज्ञा की है, वह है कल की चिंता से निर्लिप्त रहने का आदेश। यदि व्यक्ति दूरदर्शी है तो कल की चिंता उसे आज कुछ जोड़ रखने के लिए प्रेरित करती है; यदि उसमें विवेक की कमी है तो यही डर उसे लगा रहेगा कि ऋण के भार से वह कैसे मुक्त होगा। दोनों ही अवस्था में उसका जीवन हार्दिक स्पंदन खो बैठता है, सब कुछ नियंत्रित, यंत्रवत्। नाज़ियों ने 'आनन्द के द्वारा शक्ति' की व्यवस्था की थी, किंतु शासन जिस आनन्द की स्वीकृति देता है उसमें रस कम ही होता है। कुछ लोगों में महत्वाकांक्षाएँ प्रबल हो सकती हैं, पर केंद्रीकरण की प्रवृत्ति प्रतियोगिता के द्वारा उन्हें लोगों के संघर्ष में खड़ा कर देती है, और महत्वाकांक्षा रुचि के एक रूप (uniform) स्टैंडर्ड पर बलि हो जाती है। अगर आपमें एक चित्रकार होने की महत्वाकांक्षा है तो आप अपने शहर के चित्रकारों की कोटि से श्रेष्ठ होना चाहेंगे, किंतु किसी बड़े नगर में पहुँचने पर वहाँ के किसी

कला-केंद्र का सदस्य बनने पर जब आप को यह बताया जाता है कि आप की प्रतिभा असाधारण नहीं है, तो आप को इतनी निराशा हो सकती है कि रंग की कूंचियाँ फेंककर रुपये कमाने में या शराब पीकर अपने आप को भूल जाने में ही आप अपना कल्याण समझने लगें। कला की प्रगति के लिए आत्म-विश्वास आवश्यक है। इटली के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान-युग में आप इस बात की आशा कर सकते थे कि सिएना के आप सर्वश्रेष्ठ चित्रकार हो जायँ और वह स्थिति आप के लिए काफ़ी आदरणीय भी होती। किंतु आज आप छोटे से शहर में ज्ञान प्राप्त कर अपने पड़ोसियों से होड़ कर संतुष्ट नहीं हो सकते। हमारा ज्ञान आज अगाध है, पर अनुभूति अपेक्षा-कृत कम। कम से कम उन क्रियात्मक वृत्तियों के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं सोचते या बहुत कम सोचते हैं जिनसे सुन्दर जीवन का निर्माण होता है। जीवन में जो महत्वपूर्ण है उसके प्रति हम निष्क्रिय हैं, और जो क्षुद्र है उसके लिए क्रियाशील। जीवन में जो अवसाद और उदासीनता आ रही है, उससे अगर बचना है तो वैयक्तिक उत्प्रेरणा की मात्रा जीवन के लिए अत्यावश्यक है। और वे उपाय हमें खोजने ही होंगे जिनसे केवल छोटे-मोटे कार्यों में ही नहीं वरन् महत् कार्यों में भी उत्प्रेरणा-शक्ति हमें स्फूर्ति देती रहे। मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि आधुनिक संगठन (organisation) के उन अंगों

को काट दिया जाय जिनसे असंख्य लोगों का पेट चलता है, पर मेरा यह आशय अवश्य है कि इस संगठन को अधिक उदार होना चाहिए, वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए उसमें अधिक गुंजाइश होनी चाहिए, और उसकी वृहद्ता को मनुष्यता पर कम हावी होना चाहिए, अन्यथा इस संगठन का आज इतना भयावह विकास हो गया है और उसमें इतनी शक्ति केंद्रित हो गई है कि मनुष्य के विचार और भाव उसके साथ कदम मिलाकर चलने में असमर्थ हैं।

४ व्याख्यान

टेकनिक और मानव-स्वभाव में संघर्ष

मनुष्य अन्य प्राणियों से कई बातों में भिन्न होता है। एक बात तो यही है कि वह अरुचिकर और कष्टप्रद कार्य-व्यापारों में संलग्न रहने के लिए भी प्रस्तुत रहता है क्योंकि वे उसके उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होते हैं। जीवतत्त्व-वेत्ताओं की दृष्टि से इस संसार में सारा व्यापार साभिप्राय होता है; चिड़िया घोंसला बनाती है; ऊदबिलाव बाँध तैयार करते हैं, किंतु इन प्राणियों के कार्य-व्यापारों के मूल में आत्मवृत्ति ही काम करती है, वे इसलिए अपने कार्य में संलग्न नहीं होते कि वे उपयोगी हैं। उनमें आत्म-नियंत्रण या विवेक, दूरदर्शिता या संयम को नहीं ढूंढ़ना चाहिए। मनुष्य और अन्य प्राणियों में यहीं अन्तर आ जाता है। मनुष्य को भी काम करना पड़ता है, पर शक्ति से अधिक काम करने पर उसे एक प्रकार का

मनोवैज्ञानिक दंड सहना पड़ता है। इस सभ्य जीवन के विधि-विधान में कुछ दंड तो उसे भोगना ही पड़ता है, पर इसका अधिकांश अनावश्यक है और एक भिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्था उसे दूर कर सकती है।

आदिम काल में मनुष्य की आत्मवृत्तियों और कार्य-साधनों के बीच कम संघर्ष था। मनुष्य-जाति के अस्तित्व और विकास के लिए शिकार, द्वन्द्व और संतानोत्पत्ति आवश्यक थे, किंतु इनकी वजह से वह अपने कार्यों में संलग्न नहीं होता था। उसकी संलग्नता का कारण यह था कि अपने कार्यों में वह आनन्द का अनुभव करता था। कालांतर में शिकार खेलना अमीरों के मनोरंजन का साधन रह गया; इसकी जीवतत्त्व-सम्बन्धी उपयोगिता तो जाती रही, पर उससे मनोरंजन होता रहा। उस प्रकार का सरल द्वन्द्व जो आत्मवृत्ति से स्फुरित होता है आज केवल बच्चों के लिए रह गया है, पर द्वन्द्वात्मकता अब भी स्थिर है और उसके संतोष के लिए यदि उचित मार्ग न मिला तो युद्ध अवश्यंभावी है।

इसका यह अर्थ नहीं कि आदिम मनुष्य केवल उन्हीं कार्य-व्यापारों में संलग्न होता था जिनमें आकर्षण और आनन्द निहित थे; उपयोगी कार्य-व्यापारों से उसने मुँह नहीं मोड़ रखा था। मनुष्य-जाति के विकास-क्रम में बहुत पूर्व ही पत्थरों के हथियार बनने लगे थे। हमारे अर्थ-प्रधान युग के विकास की

परंपरा तभी से आरंभ होती है। यह संभव है, प्रथम पाषाण युग में अस्त्र-शस्त्र निर्माण की श्रम-साध्य क्रिया में ही कला-प्रियता का आकर्षण और भावी शक्ति के विकास का आह्लाद सन्निहित हो। साधनों से साध्य तक पहुँचने का रास्ता यदि लंबा नहीं है तो कठिन साधनों में भी आनन्द आने लगता है; हाँ, साध्य को प्राप्त करने की इच्छा अवश्य प्रबल होनी चाहिए। कुछ क्षणों के आनन्द के लिए एक लड़का बरफ़ीले पहाड़ पर टिकठी (toboggan) के सहारे चढ़ने का श्रम कर सकता है; कोई उसे मेहनत करने के लिए मजबूर नहीं करता, और भले ही वह हाँफने लगे, उसकी साँस चढ़ जाय, पर वह उल्लास का ही अनुभव करता है। किंतु तत्काल पारितोषिक न देकर उसे आप ७० वर्ष की अवस्था में पेंशन देने का वचन दें तो उसके उत्साह पर शीघ्र ही पानी फिर जायगा।

अगर आदमी में क्रियात्मक वृत्ति है तो टिकठी के सहारे पहाड़ पर चढ़ने से भी दुस्तर कार्य वह सहर्ष करेगा और इसके लिए उसे बाध्य करने की आवश्यकता नहीं होगी। एक आदमी एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने के लिए या दक्षिणी पोल तक पहुँचने के लिए या किसी वैज्ञानिक आविष्कार के लिए बर्षों ग़रीबी, भूख और विपदाओं को झेल सकता है। उसके आंतरिक उल्लास में तब तक कोई कमी नहीं आती जब तक लक्ष्य तक पहुँचने की उसकी इच्छा उत्कट है और कठिनाइयों

को सहने में उस गौरव का अनुभव होता है। उस रेड इंडियन के शब्दों में इसी में आकर्षण है।

दास-प्रथा के प्रचलन से कार्य के उद्देश्य और कर्मचारियों के उद्देश्य में अंतर आने लगा। मिश्र देश के राजाओं (Pharaohs) के गौरव के लिए पिरामिड बने, पर जिन गुलामों ने उन्हें बनाया उन्हें पिरामिड-निर्माण में किसी गौरव का बोध नहीं हुआ। वे काम करने पर विवश थे। जो दास या कम्मी (serf) हल चलाते थे, उन्हें खेती में आनन्द नहीं आता था। उनके लिए संतोष यही था कि वे जीवित थे और यदि वे भाग्यशाली हुए तो शारीरिक यंत्रणा से बचे रहे।

आधुनिक काल में औद्योगिक क्रांति के पहले सर्फडम के पतन और दस्तकारी की उन्नति के कारण ऐसे मज़दूरों का वर्ग बना जो स्वयं अपने स्वामी थे और अपने उत्पादन में आनन्द का अनुभव करते थे। इस स्थिति ने उस प्रकार के प्रजातंत्र को जन्म दिया जिसकी पैरवी जेफर्सन (Jefferson) और फ्रांस की क्रांति ने की थी। उस व्यवस्था में आधुनिक टेकनिक के आर्थिक संगठनों (organisation) के विपरीत स्वतंत्र उत्पादक थे।

एक बड़ी फैक्टरी को लीजिए, उदाहरण के लिए मोटर कम्पनी को। मोटर कम्पनी का ध्येय है मोटर बनाना, कर्मचारियों का ध्येय है रोटी कमाना। उनके पारस्परिक ध्येय में

कोई आंतरिक एकता नहीं है। ध्येय की एकता केवल फैक्टरी के मालिकों और मैनेजरों में मिलती है, कर्मचारियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। कुछ कर्मचारी मोटरों के श्रेष्ठ और सुन्दर उत्पादन में गौरव का अनुभव कर सकते हैं, पर साधारणतः उनका ध्येय यूनियनों के द्वारा तनख्वाह और काम के घंटों में संशोधन लाना होता है।

कुछ अंशों में यह बुराई यंत्रीकरण (mechanization) और बड़े पैमाने (large size) से सम्बद्ध है। जहाँ तक यंत्रीकरण का प्रश्न है, एक आदमी मोटर के अधिकाँश को नहीं बनाता। उसका तो बस एक हिस्से से या उस हिस्से के किसी अंश-विशेष से सम्बन्ध रहता है। अधिकाँश काम के लिए किसी निपुणता या योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, उससे तो ऊब पैदा होती है। जहाँ तक उद्योग-संगठन के बड़े पैमाने का प्रश्न है, समूह का समूह मोटर के बनाने में योग देता है, पर कर्मचारियों और मालिकों के नाते उनमें एकसूत्रता नहीं होती। श्रमिकों में एकता हो सकती है और अधिकारी-वर्ग में संश्लिष्टता हो सकती है, पर श्रमिकों के संगठन का उत्पादन के अधिकारियों के साथ आँतरिक सम्बन्ध नहीं होता। उसका ध्येय तो तनख्वाह को बढ़ाना और काम के घंटों को कम करना है। मालिक-वर्ग को उत्पाद्य वस्तु में गौरव का अनुभव हो सकता है, लेकिन एक उद्योग-संगठन का जब व्यावसायिक

दृष्टि से पूर्ण उत्कर्ष हो जाता है तो मालिक-वर्ग भी अपने लाभ की बात ही सोचने लगता है। और उसे यह लाभ अच्छा माल निकालने की बजाय विज्ञापन से अपने माल की खपत करने में अधिक दिखता है।

श्रम के कौशल (workmanship) में गौरव का बोध दो कारणों से कम हो गया है। पहले तो मुद्रा के प्रचलन ने इस गौरव को कम किया, फिर बड़े पैमाने के उत्पादन ने। मुद्रा के कारण वस्तु का मूल्य मुद्रा में कूता जाने लगा। यह मूल्य उसका यथार्थ नहीं, वस्तु-सापेक्ष है। जो वस्तुएँ आदान-प्रदान के लिए नहीं होतीं, उनका यथार्थ मूल्य आँका जा सकता है, कारण वहाँ क्रय-विक्रय का प्रश्न नहीं उठता। गाँवों के बाग, बगीचे प्रायः रमणीय होते हैं, उन्हें तैयार करने में प्रायः खर्च भी काफ़ी हो जाता है, पर पैसों के लाभ के लिए वे नहीं बनाए जाते। कृषकों की वेश-भूषा (peasant costumes) का अस्तित्व आज केवल भ्रमण करने वालों (tourists) के आनन्द के लिए रह गया है, पर पहले वह वेश-भूषा परिवार के पहनने के लिए बनती थी और उनका मुद्रा-मूल्य नहीं था। एक्रोपॉलिस के मंदिर और मध्य-युगीन गिरजों का निर्माण अर्थ-दृष्टि से नहीं हुआ था और न उनका आदान-प्रदान ही संभव था। मुद्रा-व्यवस्था ने धीरे-धीरे उस प्राचीन व्यवस्था को स्थानांतरित कर दिया जिसमें लोग

वस्तुओं का उत्पादन अपने काम के लिए करते थे। इस परिवर्तन के कारण वस्तुओं की कीमत सुन्दरता के स्थान पर उनकी उपयोगिता हो गई।

बड़े पैमाने के उत्पादन ने इस प्रवृत्ति को अत्यन्त व्यापकता दी है। अगर आप बटनों का कार-बार करते हैं, तो अपने काम के लिए आप कुछ बटन रख सकते हैं। वे कितने भी सुन्दर क्यों न हों, सारे के सारे बटन आप रखना नहीं चाहेंगे। अपने उपयोग के लिए बटनों को छोड़कर शेष बटनों के स्थान पर आप रोटी, मकान, मोटर, बच्चों की पढ़ाई की सुविधा आदि पसन्द करेंगे। इन विभिन्न वस्तुओं का अगर बटनों के साथ कोई संबन्ध है तो मुद्रा के मूल्य का। और आप के लिए बटनों का मुद्रा-मूल्य महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है उससे लाभ अर्थात् विक्रय-मूल्य में उत्पादन के खर्च से अधिकता। उत्पादन का खर्च वस्तु को घटिया बनाकर कम किया जा सकता है। प्राचीन तरीकों को छोड़कर जब बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगता है तो वस्तु घटिया भी बनने लगती है।

आधुनिक उद्योग-संगठन के दो परिणाम और होते हैं जिनके कारण कर्मचारियों की रुचि उत्पादन में कम होती जाती है; एक तो, काम से तात्कालिक लाभ की संभावना न होना और दूसरे, मालिक तथा मज़दूर में विलगाव की स्थिति।

सब से पहले मैं प्रथम परिणाम को लेता हूँ—लाभ की

संभावना में दूरत्व। मान लीजिए आज आप किसी ऐसी वस्तु के उत्पादन से अपना सम्बन्ध रखते हैं जो विदेशों में जाती है। उदाहरण के लिए फिर मोटर को ही लीजिए। आप से बार-बार ज़ोर देकर यह कहा जाता है कि देश की खाद्य-स्थिति के लिए हमारा निर्यात-व्यवसाय पुष्ट होना चाहिए। आप श्रम करते हैं; उस श्रम से देश में अन्न आता है, पर आप को वह सीधे नहीं मिलता, ब्रिटेन के चार करोड़ आदमियों में यह बँट जाता है। आप के एक दिन काम पर न जाने से राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था (national economy) को बाह्यतः कोई हानि होती दिखाई नहीं देती, पर इसे देखने के लिए बौद्धिक परिश्रम की आवश्यकता है। नैतिक दृष्टि से प्रयास कर आप अपने कर्तव्य को निभा सकते हैं। यदि आप अधिक काम करते हैं तो देश के अंदर अधिक अन्न आता है और इससे आप को लाभ सीधे नहीं, वरन् परोक्ष रूप में होता है। यह एक स्थिति हुई। दूसरी स्थिति वह है जिसमें आवश्यकता स्पष्ट और गंभीर होती है। उदाहरण के लिए किसी जहाज़ के संकट को लीजिए। जहाज़ डूबने की नौबत आने पर यात्री बिना वाद-विवाद किए आज्ञा-पालन के लिए तैयार हो जाते हैं। इस स्थिति में न तो लक्ष्य ही धुँधला है और न लक्ष्य तक पहुँचने की विधि ही अस्पष्ट है, जिसे समझने में कोई कठिनाई होती हो। जहाज़ के कप्तान को यदि गवर्नमेंट की तरह अपनी आज्ञा के औचित्य को समझाना

पड़े तो उसके भाषण के बीच में ही जहाज़ की जल-समाधि निश्चित है।

अब मैं दूसरे परिणाम को लेता हूँ—मालिक और मज़दूर के सम्बन्धों में दूरी। इस परिणाम के दो पक्ष हैं। एक तो सर्व-परिचित वर्ग-संघर्ष है। दूसरा पक्ष सभी विशाल उद्योग-संगठनों में मिलने वाली आम कठिनाई है। पूँजीपतियों और मज़दूरों के संघर्ष के संबंध में यहाँ कुछ कहना नहीं चाहता, लेकिन राजनीतिक अथवा आर्थिक संस्थाओं में, वे भले ही पूँजीवादी व्यवस्था के नीचे हों या साम्यवादी व्यवस्था के नीचे, शासन की जो दूरी आ रही है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और उसी पर मैं यहाँ विचार करना चाहता हूँ।

समाज का कोई भी संगठन क्यों न हो, वर्ग भेद आ ही जाता है। एक ओर साधारण जनता के हित होते हैं और दूसरी ओर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के। इन हितों में संघर्ष खड़ा हो जाता है। कोयले की कीमत बढ़ जाने से कोयले के व्यवसाय में तरक्की हो सकती है। उस स्थिति में श्रमिकों के वेतन में भी सुधार हो सकता है, पर इससे क्या साधारण जनता को भी लाभ होता है? जब गवर्नमेंट कोयले की कीमत और श्रमिकों की तनख्वाह निर्धारित करती है, तो उसका प्रत्येक निर्णय किसी न किसी समुदाय के तो विपक्ष में ही होगा। जिन आधारों पर गवर्नमेंट अपना मत निश्चित करती है वे सामान्य होते

और मज़दूरों के नित्य-प्रति के जीवन से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं होता, और ऐसी अवस्था में उसके मत प्रबल नहीं हो पाते। सीधा-साधा लाभ लोगों की समझ में अधिक जल्द आता है, पर बहुत से लोगों में हानि यदि बँट भी जाय तो लोग उससे संतुष्ट नहीं होते। ऐसी ही वजह से सरकार मुद्रा-स्फीति को रोकने में अड़चनें महसूस करती है, अन्यथा वह बदनाम हो जाय। अगर सरकार आम पब्लिक के हित को दृष्टि में रखकर काम करती है तो विभिन्न वर्ग और समुदाय उसे अपने-अपने हितों के विरुद्ध देखते हैं—सभी के हितों को तो संतुष्ट भी नहीं किया जा सकता। विभिन्न वर्ग समझने लगते हैं कि उनके हितों की जान-बूझकर अवज्ञा की जा रही है। प्रजातंत्र में जैसे-जैसे सरकार का नियंत्रण बढ़ता जाता है, यह कठिनाई भी बढ़ती जाती है।

इसके अतिरिक्त इस बात की भी विशेष आशा नहीं करनी चाहिए कि प्रजातंत्र में सरकार सदा जनता के हितों का ध्यान रखेगी। नौकरशाही (bureaucracy) के कुछ दोषों को मैं पहले ही बता चुका हूँ; अब उन दोषों पर विचार कर लेना चाहिए जो सत्ताधारी और जनता के सम्बन्धों में पैदा हो जाते हैं। सरकारी नौकरियों में मंत्रियों से लेकर साधारण कर्मचारियों तक लोग अपने-अपने हित को समझते हैं। जनता के हितों के साथ वे अपने हितों के विरोध को भी समझते हैं।

उन्हें पता है कि उनके पारस्परिक हितों में सामंजस्य नहीं है। इन हितों में अधिकार-लिप्सा और कार्य की अनिच्छा प्रमुख हैं। एक राज-कर्मचारी जब किसी काम के लिए 'नहीं' कहता है, तो उसकी अधिकार-लिप्सा और कार्य की अनिच्छा दोनों को सुख मिलता है। ऐसी स्थिति में ऐसा लगता है, और कुछ अंशों में यह सत्य भी है, मानो वह राज-कर्मचारी जो उनकी सेवा के लिए नियुक्त है, उनका शत्रु हो।

उदाहरण के लिए, उन साधनों को लीजिए जिन्हें खाद्य-संकट के समय काम में लाया जाता है। अगर आपके पास धरती का कोई टुकड़ा है, और अपनी उपज से अपने राशन की कमी को पूर्ण करने के लिए आप स्वतंत्र हैं, तो अन्न-संकट की अवस्था में अधिक मेहनत कर आप अपनी स्थिति को सुधार सकते हैं। लेकिन जो लोग खेती-बारी नहीं करते उनके लिए अपने राशन का सारा अन्न खरीदना आवश्यक हो जाता है।

अबाध नीति (laissez-faire) की स्थिति में चीज़ों के दाम बढ़ते ही जाते हैं और उस अवस्था में अमीरों को छोड़कर शेष लोगों को अपना पेट काटना पड़ता है। यह सब सत्य होते हुए भी, हम लोगों में से कुछ ही ऐसे हैं जो खाद्य-विभाग में काम करने वाली स्त्रियों की सेवा के महत्त्व को समझते हैं, और ऐसे लोग तो और भी कम हैं जो चिंता और थकान के होते हुए भी जनता के प्रति उदार बने रहते हैं। जन-साधारण को स्त्रियों

का व्यवहार निरंकुश लगता है, भले ही वे यह समझते हों कि उनकी निरंकुशता जान-बूझकर नहीं होती। इसके विपरीत स्त्रियों को जन-साधारण का व्यवहार उच्छृङ्खल, चिड़चिड़ा और मूर्खतापूर्ण लगता है; जनता अपनी चीज़ें खोती रहती है और पते बदलती रहती है। ऐसी स्थिति में शासक और शासित वर्ग के सम्बन्धों में वास्तविक सामंजस्य स्थापित करना सरल कार्य नहीं है।

अब तक जनता के हितों और वर्ग-विशिष्ट की इच्छाओं के बीच सामंजस्य लाने के जो विविध प्रयोग किए गए हैं, उनके लाभालाभ पर काफ़ी विवाद हो चुका है।

सामंजस्य स्थापित करने का सबसे सरल और सुस्पष्ट तरीका युद्ध है। युद्ध की स्थिति में जब राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में हो तो लोगों को संकल्प और निष्ठा के साथ काम करने के लिए तैयार किया जा सकता है, और यदि सरकार की योग्यता में लोगों का विश्वास हुआ तो उसकी बात बिना किसी विवाद के मान ली जाती है। यह स्थिति ठीक उसी प्रकार की है जैसी जहाज़ के डूबने की। पर जल-सेना में अनुशासन बनाए रखने के लिए कोई जहाज़ डुबा देने का परामर्श नहीं देगा। इसी प्रकार राष्ट्रीय एकता के तर्क पर हम युद्ध की युक्ति नहीं दे सकते। जो एकता युद्ध से आती है, वह बहुत कुछ अंशों तक युद्ध के भय से भी संभव है, किंतु युद्ध का भय युद्ध की उपक्र-

मक्षिका है। बहुत दिनों तक जब युद्ध का भय बना रहता है तो वह यथार्थ युद्ध में ही परिणत हो जाता है, और यदि उससे राष्ट्रीय एकता को गति मिल सकती है तो वह एक प्रकार की ग्लानि और उन्मत्तता भी पैदा कर सकती है।

सामंजस्य का दूसरा साधन प्रतियोगिता है। साम्यवादी इसे पूँजीवादी समाज का दुर्गुण मानते हैं किंतु सोवियत् सरकार ने औद्योगीकरण में इसे फिर से प्रमुखता दी है। स्ताकानोवाइट (Stakhanovite) तरीका एक प्रकार से पुराने कार्य-अनुपात प्रणाली (piece-work system) का पुनरुत्थान ही है जिसका ट्रेड यूनियनों ने क़ाफ़ी विरोध किया था और उसे हटाने में सफलता भी पाई थी। इस नए तरीके के अनुसार कुछ कर्मचारियों को उनकी असाधारण योग्यता पर पुरस्कार दिया जाता है और कुछ लोगों को उनकी अयोग्यता पर दंड। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि रूस की भूमि में भी इन व्यवस्थाओं में वे ही गुण होंगे जिनकी ओर पूंजीपति संकेत करते थे और अवगुण भी वे ही होंगे जिनका ट्रेड यूनियन विरोध किया करती थी।

बहुत से रूपों में प्रतियोगिता आपत्तिजनक है किंतु इसके कुछ लाभ भी हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे प्रयास को प्रोत्साहन और उत्तेजना मिलती है। इससे हमारी उग्र वृत्तियों को भी संतोष मिल जाता है जिसके अभाव में युद्ध

अनिवार्य हो जाता है। इसी प्रकार खेल-कूद में प्रतियोगिता को हटा देने की कोई सलाह नहीं देगा। अगर फुटबाल की दो टीमें भाई-चारे में आकर यह निश्चय कर लें कि वे एक गोल इधर, फिर एक गोल उधर करेंगीं, तो खेल का आनन्द ही जाता रहेगा। प्रतियोगिता में जो आनन्द और उत्साह है, उसे खिलाड़ियों तक सीमित रखने में कोई बड़प्पन नहीं है। टीमों, स्थानीय संस्थाओं या स्थानों, और संगठनों की पारस्परिक प्रतियोगिता से महत्त्वपूर्ण प्रोत्साहन मिलता है। यदि प्रतियोगिता को निर्मम और हानिप्रद नहीं होना है, तो उसमें असफल रहने पर दंड-व्यवस्था घातक नहीं होनी चाहिए जैसी कि युद्ध-काल में होती है, और न उसमें भूख या वह त्रास होना चाहिए जो अव्यवस्थित आर्थिक प्रतियोगिता में मिलता है। गौरव-हानि ही पर्याप्त दंड है। फुटबाल का वह मैच श्रेयस्कर नहीं होगा जिसमें हारने वाली टीम को मृत्यु-दंड या भूख का त्रास मिले।

ब्रिटेन में इधर कुछ वर्षों से लोगों की कर्तव्य-भावना को अपील करने का विशेष उद्योग किया गया है। संयम (austerity) आज के युग के लिए अनिवार्य है और उत्पादन में वृद्धि ही मुक्ति का मार्ग है। संकट-काल में इस विषय की अपील निताँत आवश्यक है। कर्तव्य-भावना प्रायः बहुमूल्य और आवश्यक होती है, पर यह समस्या का कोई स्थायी निदान नहीं है। और शायद दीर्घकाल तक कर्तव्य-

भावना अक्षुण्ण न रहे। इसके लिए आत्म-नियंत्रण और वृत्तियों का दमन आवश्यक है, पर अधिक काल तक इस स्थिति के बने रहने पर शिथिलता आती है और स्वाभाविक शक्तियों का ह्रास होता है। अगर कर्तव्य-भावना को परंपरागत नैतिकता (जैसे, दस धर्माज्ञाएँ) के आधार के बजाय आर्थिक और राजनीतिक आधारों पर ग्रहण किया जाय तो इस शिथिलता से इन आधारों के प्रति संशयात्मकता उत्पन्न होती है। उस अवस्था में बहुत से आदमी या तो अपने जीवन से उदासीन हो जाते हैं या किसी ऐसी धारणा को, जो संभवतः मिथ्या होती है, अपनाना चाहते हैं जिससे सम्पन्नता के लिए कोई छोटा-मोटा रास्ता मिल जाय। आदमी को या तो आशा जीवित रखती है या भय उससे काम करवाता है। किंतु आशा और भय स्पष्ट और तात्कालिक होने चाहिए, तभी बिना शिथिलता लाए वे प्रभावशाली हो सकते हैं।

आज जो उन्मत्त प्रोपेगेन्डा किया जाता है या उन्माद पैदा करने के लिए जो प्रोपेगेन्डा किया जाता है, उसके व्यापक प्रभाव का यही कारण है। सामान्य तौर पर लोग यह तो जानते हैं कि सुदूर देशों में होने वाली घटनाओं का उनके जीवन पर प्रभाव पड़ता है, पर सब यह नहीं समझते कि वह प्रभाव पड़ता कैसे है। केवल कुछ विशेषज्ञ ही इस रहस्य को समझते हैं। आखिर चावल का अभाव क्यों है? केले क्यों नहीं मिलते?

बैलों की पूँछ को क्या हो गया है ? जब भारत को या सरकार की धाँधली (red tape) को या पूँजीवादी विधान को दोषी ठहराया जाता है, तो आप जनता की घृणा और आक्रोश के लिए एक शैतान का आधार प्रस्तुत कर देते हैं। किसी संकट व दुर्भाग्य के आने पर हम एक ऐसे शत्रु की तलाश करने लगते हैं जिसके सिर पर सारा दोष रखा जा सके। बर्बर समाज में विपत्तियों का कारण दैवी प्रकोप होता है। जब हमारी मुसीबतें टेढ़ी होती हैं और उनकी वजह आसानी से समझ में नहीं आती, तो हम भी बर्बर समाज की व्याख्या मानने लगते हैं। जो समाचार-पत्र डॉलर-संकट की बारीकियाँ समझाता है, उसकी अपील हम लोगों पर कम होती है, पर वह समाचार-पत्र जो हमारी नफ़रत के लिए किसी शैतान का नाम रख देता है, हम पर अधिक प्रभाव डालता है। प्रथम विश्व-युद्ध में हार जाने पर अधिकाँश जर्मनों को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया गया था कि उनकी पराजय के कारण यहूदी हैं और वे ही दोषी हैं।

हमारे जीवन में जो कुछ क्लेशजनक है उसके लिए अनुमान के आधार पर किसी को शत्रु मानकर दोषी ठहराना और उसे घृणा-पात्र बनाना मनुष्यता के लिए श्रेयस्कर नहीं है। इससे अनिष्ट और अनर्थ दोनों सम्भव हैं। ठीक है, इससे मनुष्य की आदिम सहज शक्ति (energy) को उत्तेजना मिलती

है, किंतु जिन तरीकों का इसके लिए प्रयोग किया जाता है, उनके परिणाम जघन्य होते हैं। ऐसे कई उपाय हैं जिनके द्वारा घृणा पैदा करने वाले की उग्रता कम की जा सकती है। सब से अच्छा उपाय तो स्पष्टत: यही है कि उन रोगों का निदान ही कर दिया जाय जिनके कारण एक अनुमानित शत्रु की आवश्यकता होती है। यदि यह संभव न हो तो अपनी विपत्तियों के कारणों को ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न करना चाहिए। पर जब तक राजनीति और प्रेस में ऐसी शक्तियाँ काम करती हैं जिन्हें पब्लिक को उभाड़ने से ही बल मिलता है, तब तक इन उपायों से काम लेना मुश्किल है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, विपत्तियाँ स्वयं उन्मत्त घृणा उत्पन्न करने में असमर्थ होती हैं। बिना किसी बाहरी उत्तेजना या सहयोग के वे उस प्रकार की घृणा पैदा नहीं कर सकतीं, जैसी वह नफ़रत जिसने नाज़ियों को उत्तेजित किया था। विपत्ति के साथ-साथ अवसन्न नैराश्य का होना भी आवश्यक है। एक स्विस परिवार, जिसके खाने-पहनने के लिए अपने देश में पर्याप्त है, घृणा के व्यापार में अपना समय खोना पसन्द नहीं करेगा। किंतु यदि देश की स्थिति बिगड़ रही हो तो आवश्यक कार्य भी तात्कालिक अपील पैदा करने में अधिक सफल नहीं होते। ब्रिटेन पर आज जो गंभीर आर्थिक संकट छाया हुआ है, उसका सामना करने के लिए जो करना चाहिए उसे सभी

जानते हैं : उत्पादन में वृद्धि, खपत में कमी, निर्यात को प्रोत्साहन। यह तो लम्बी-चौड़ी बात हुई; सारे समाज से उसका सम्बन्ध है, पर साधारण लोग अपने हितों के साथ उसका कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं देख पाते। अगर ऐसे कार्यों को, जो सर्व-साधारण के लिए अस्पष्ट हैं और जिनमें उन्हें प्रत्यक्ष हित नहीं दिखता, सुचारु रूप से और स्फूर्ति के साथ संपादित करना है, तो उसके लिए तात्कालिक उत्तेजना नितांत आवश्यक है। इसके लिए नियंत्रित निक्षेपण (devolution) और सामान्य व्यक्तियों अथवा छोटी-छोटी संस्थाओं को उनके स्वतंत्र उचित कार्यों के लिए अवसर देना मैं ज़रूरी समझता हूँ।

आधुनिक काल के विशाल स्टेटों में प्रजातंत्र की जो व्यवस्था है उसमें थोड़े से लोगों को ही राजनीतिक उत्प्रेरणा की सुविधा मिलती है, शेष लोगों के लिए तो वह दुर्लभ ही है। लोगों को यह कहने की आदत हो गई है कि ग्रीक जिसे प्रजातंत्र कहते थे उसका पतन स्त्रियों और गुलामों को अधिकार देने के कारण हुआ, पर हमें यह मालूम होना चाहिए कि ग्रीकों के विधान में प्रजातंत्र के इतने अधिक तत्व सन्निहित थे जितने एक स्टेट के विशाल होने पर ही संभव हैं। उनके यहाँ नागरिक को प्रत्येक विषय पर वोट देने का अधिकार था, हमारी तरह उसे अपना अधिकार किसी एजेंट के जिम्मे करने की ज़रूरत नहीं थी। वह राज-कर्मचारियों का निर्वाचन कर सकता

था, सेनापतियों को बनाना उसके हाथ में था; और यदि जनता राज्य के अधिकारियों से असंतुष्ट होती थी तो उन्हें अधिकार-च्युत भी किया जा सकता था। नागरिकों की संख्या कम होने पर प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार को समझता था और उसे इस बात का ज्ञान था कि अधिकार काम में भी लाया जाता है। मैं यह नहीं कहता कि ग्रीकों का विधान दोष रहित था, उसमें कितनी ही बुराइयाँ थीं; किंतु जहाँ तक वैयक्तिकउ प्रेरणा को प्रोत्साहन देने का प्रश्न है, हमारे युग की कोई भी राज्य-व्यवस्था उसके सामने तुच्छ है।

एक दृष्टांत लीजिए। एक एडमिरल है और कुछ टैक्स देने वाले साधारण व्यक्ति हैं। अब इनके सम्बन्धों पर विचार कीजिए। सामूहिक दृष्टि से टैक्स देने वाले एडमिरल की नियुक्ति करने वाले हैं। पार्लियामेंट में उनके एजेंट एडमिरल का वेतन निर्धारित करते हैं। वे ही लोग उस सरकार को बनाते हैं जो एडमिरल को नियुक्त करती है। किंतु यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको एडमिरल का स्वामी समझने लगे और उस अधिकार को बरतने लगे जो मालिक नौकर के ऊपर रखता है, तो राज्य की सारी व्यवस्था विशृंखल हो जाय। अब सोचिए, एडमिरल एक बड़ा आदमी है, वह एक सत्ताधारी है, और टैक्स देने वाला साधारणतया एक सामान्य व्यक्ति। थोड़ी बहुत मात्रा में यह बात सभी सरकारी नौकरियों पर लागू होती है।

आप पोस्ट-ऑफिस एक चिट्ठी रजिस्टर्ड करवाने जाते हैं। वहाँ का कार्यकर्ता भी अपने आपको सत्ताधारी समझता है। कम से कम कुछ देर के लिए वह आपको परेशान कर सकता है। वह आपको अपने पास वाले आदमी से काम कराने के लिए कह सकता है और दूसरा आदमी आपको फिर उसी के पास भेज देता है। आपका काम टेढ़ा है, उसका मूड ठीक नहीं है, और आपको परेशान होना पड़ता है। मजे की बात यह है कि पोस्टऑफिस के दोनों कर्मचारी जनता के सेवक कहे जाते हैं। एक साधारण वोटर (voter) यह अनुभव नहीं कर पाता कि वह राष्ट्र की सेना, पुलिस, सिविल सर्विस आदि की शक्ति का स्रोत है, वह तो अपने जीवन में यही पाता है कि वह उन सत्ताधारियों की विनत प्रजा है और उसका काम, जैसे चीनी कहा करते थे, 'थर-थर काँपना और आज्ञापालन करना' है। जब तक प्रजातंत्र में अधिकार और नियंत्रण दूर से आते हैं, जन-शासन का केंद्रीयकरण होता है और सत्ता केन्द्र से परिधि की ओर दौड़ती है, एक सामान्य व्यक्ति सत्ताधारी के सामने अपने आपको असमर्थ ही पावेगा। यदि प्रजातंत्र को एक सरकारी मशीनरी न हो कर अनुभूतिगम्य यथार्थ होना है, तो इस असमर्थता की भावना को दूर करना आवश्यक है।

बहुत सी जिन बुराइयों पर इस व्याख्यान में हम विचार कर रहे हैं, वे हमारे लिए नई नहीं हैं। सभ्यता के आरंभ से ही

अधिकाँश जनता का जीवन दुःसह रहा है; ऋद्धि-सिद्धि और उमंग-उत्प्रेरणा तो भाग्यशालियों के लिए रही हैं। अधिकाँश व्यक्तियों के लिए जीवन एक कठोर दिनचर्या था, समय-समय उन पर क्रूरता के प्रयोग भी होते रहते थे। सर्व-प्रथम पश्चिम के देशों में एक नए आदर्श की ज्योति आई। सारे संसार ने उसे ग्रहण किया। आज हम यह नहीं चाहते कि कुछ लोग तो जीवन में समृद्ध हों और शेष दुख के दुःसह भार को उठाते रहें। असामयिक औद्योगीकरण ने ऐसी बुराइयों को पैदा किया है जिस से लोग इतने भयाकुल और व्यग्र हो उठे हैं जितना रोमनों के समय में भी वे नहीं होते। दास-प्रथा इसलिए उठ गयी थी कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य की समृद्धि के लिए यंत्र बना देना लोगों को अमानुषिक लगने लगा था। आज हम उन लोगों की नीति का समर्थन नहीं करते, कम से कम सिद्धान्त की ही दृष्टि से, जो श्वेत महाप्रभुओं के विजित जाति के शोषण को ठीक मानते हैं। अमीर और ग़रीब के जीवन की दूरी को पाटने की इच्छा ने साम्यवाद को प्रेरणा दी है। सभी दिशाओं में अन्याय और असमानता के प्रति विद्रोह हुआ है। लोग यह पसंद नहीं करते कि अत्याचार और शोषण, यंत्रणा और पीड़ा की नींव पर किसी भव्य प्रासाद को खड़ा किया जाय।

यह नया विश्वास आज इस तरह स्वीकार कर लिया गया है कि लोगों की दृष्टि इस बात पर कम जाती है कि वह अत्या-

चार के दीर्घ इतिहास में कितना क्राँतिकारी है। इस दृष्टिकोण से इतिहास के पिछले एक सौ साठ वर्ष हमारे लिए संघर्ष और क्रांति के वर्ष हैं। जो नए प्रभावशाली मत होते हैं, उनसे कष्ट भी होता है। यह नवीन सिद्धान्त भी हमारे जीवन के विधान में कितने ही परिवर्तन करना चाहता है। सिद्धान्त प्रायः धर्माज्ञा (gospel) का रूप धारण कर लेते हैं। जो भय अन्य सिद्धन्तों के सम्बन्ध में रहा है और जो सत्य भी हुआ है, वही भय इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी है कि कहीं साधन साध्य न मान लिए जायँ और साध्य एकदम विस्मृत न हो जाय। इस बात का ख़तरा है कि समानता की धुन में बहुत सी अच्छी वस्तुओं का सम वितरण न कर सकने के कारण हम उन्हें अच्छा मानना ही छोड़ दें। प्राचीन काल में स्वेच्छाचारी राजाओं ने भी अल्पसंख्यकों को कुछ सुविधाएँ दे रखी थीं; कहीं ऐसा न हो कि जिस नए समाज का हम निर्माण करना चाहते हैं, उसमें हमारी असावधानी से वे सुविधाएँ भी जाती रहें। जब मैं इस युग की बुराइयों का उल्लेख करता हूँ तो यह अर्थ नहीं है कि मैं उन्हें प्राचीन-काल की बुराइयों से निकृष्ट अथवा संख्या में अधिक बताना चाहता , मेरा तात्पर्य यही है कि भूत-काल में जो कुछ अच्छा था, वह हमारे हाथ से जाता न रहे। जहाँ तक संभव है, हम उसे ग्रहण करें और इस बात का ध्यान रखें कि ग्रहण करने की क्रिया में वह अनिष्टकारी न

हो जाय। अगर इस कार्य में सफलता चाहिए तो कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें स्मरण रखना होगा, अन्यथा वे कल्पना की उड़ान में खो जाती हैं।

प्रजातंत्र की 'समानता' की वेदी पर जिन वस्तुओं के बलि होने की आशंका रहती है, उनमें शायद सबसे महत्त्वपूर्ण आत्म-सम्मान की भावना है। आत्म-सम्मान से मेरा तात्पर्य गर्व के अच्छे पक्ष से है, वह जिसे उचित गर्व कहते हैं। इसका दूसरा पक्ष बड़प्पन की भावना है। शत्रुओं से घिरे रहने पर भी आत्म-सम्मान व्यक्ति को पतित नहीं होने देता; वह यही अनुभव करता है कि भले ही दुनिया उसके विपक्ष में हो पर वह सही है। अगर आदमी इस गुण से वंचित है तो वह बहु-संख्यकों के मत को या शासन के मत को ही श्रेष्ठ और उचित मानता रहेगा और यह प्रवृत्ति अन्त में उसके नैतिक और बौद्धिक विकास को कुंठित कर देगी।

अब तक आत्म-सम्मान अल्प-संख्यकों का गुण रहा है। स्थिति ही ऐसी थी। जब सत्ता और अधिकार लोगों में समान रूप से वितरित नहीं होते तो जो लोग दूसरों से शासित होते रहते हैं, वे इस गुण को प्रायः खो बैठते हैं। जिन पर दमन और अत्याचार का चक्र चलता है उन्हें विजेताओं का आदर करने के लिए विवश किया जाता है। अत्याचार की यही कुटिल नीति है। रोम के मल्ल सम्राट् की वंदना करते थे, पर

उनकी आधी संख्या सम्राट् के मनोरंजन के लिए काट दी जाती थी। दास्तोवेस्की और बेकुनिन को भी जेल में ज़ार निकोलस के गुण-गान करने का रूपक रचना पड़ा। दमन से आक्रांत होने पर लोग प्राय: गिड़गिड़ाते हुए अपने अपराध स्वीकार करने लगते हैं, और जिन को दमन से मुक्ति मिलती है वे घृणित खुशामद करने में ही अपनी भलाई समझते हैं, और बहुधा अपने अपराध का बोझ अपने साथियों के कंधों पर डालने लगते हैं। एक प्रजातंत्रवादी राज्य से आत्म-पतन के इन घृणित रूपों के दूर होने की आशा की जा सकती है। उससे लोगों को आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए अवसर प्राप्त होने की संभावना होती है। पर प्रजातंत्रवादी राज्य इन आशाओं के विपरीत भी जा सकता है।

प्राचीनकाल में आत्मसम्मान की भावना प्रधानरूप से अल्प-संख्यकों तक परिमित थी; अतः जो लोग अल्प-जन-शासित व्यवस्था (oligarchy) के विरोधी हैं, वे इसका तिरस्कार कर सकते हैं। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि जनता की आवाज़ ईश्वर की आवाज़ है, वे भी आत्मसम्मान को जनता की विरोधी भावना कह सकते हैं और उसे दण्डनीय अपराध घोषित कर सकते हैं क्योंकि उनके लिए कोई भी विशेष मत या असाधारण रुचि अधर्म है। इस स्थिति से तभी बचा जा सकता है जब स्वतंत्रता का उतना ही मान हो जितना

प्रजातन्त्र का है और लोग इस बात का अनुभव करें कि वह समाज जिस में प्रत्येक आदमी सब आदमियों का गुलाम है उस समाज से कुछ ही बेहतर है जिस में प्रत्येक आदमी एक स्वेच्छाचारी राजा का गुलाम है। समानता वहीं है जहाँ या तो सब गुलाम हैं या सब स्वतन्त्र हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ममानता अपने आप एक अच्छे समाज का निर्माण करने में असमर्थ है।

औद्योगीकरण के इस युग में समाज के लिए शायद सब से प्रमुख और निश्चय ही सब से कठिन समस्या काम को रुचिकर बनाने की है—इस अर्थ में रुचिकर कि वह मज़दूर के लिए केवल तनख्वाह का जरिया नहीं है। यह समस्या विशेषतः सामान्य श्रम के सम्बन्ध में खड़ी होती है। जिन श्रमिकों में कौशल (skill) है उनके लिए तो कठिन काम आकर्षक होना ही चाहिए। समस्या पूर्ति (cross-word puzzle) और शतरंज का खेल कौशलपूर्ण काम की कोटि में आते हैं, फिर भी बहुत से आदमी उन पर मेहनत करते हैं और केवल आनन्द के लिए। मशीनरी के अधिकाधिक प्रयोग के कारण ऐसे मज़दूरों की संख्या में भी वृद्धि होती जा रही है जिनका काम एकदम आसान, अतः एकदम ऊबा देने वाला है। प्रो० अबरक्राम्बी (Aber Crombie) ने अपनी 'वृहद्तर लंदन योजना, १९४४' में प्रासंगिक रूप में इस बात की ओर

संकेत किया है कि बहुत से आधुनिक उद्योग धंधों के लिए विशेषज्ञों की ज़रूरत नहीं होती। इसलिए उन्हें ऐसे स्थानों पर स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है जहाँ परंपरागत निपुण मज़दूर मिलते हैं। वे लिखते हैं—"आधुनिक उद्योग-धन्धों की यह अवस्था है कि उन्हें किसी विशेष श्रम पर निर्भर होने की आवश्यकता नहीं है। आज तो उनके लिए कौशल अपेक्षाकृत कम, स्थिरता और विश्वास-पात्रता अधिक आवश्यक हैं, और ये गुण मज़दूरों में कहीं भी मिल सकते हैं।"

"स्थिरता और विश्वास-पात्रता" अवश्य ही उपयोगी गुण हैं, किंतु यदि मज़दूर में उसके काम के लिए ये गुण ही सब कुछ हों, तो उसका काम शायद ही इनसे रुचिकर हो; उस दशा में यह निश्चित है कि जीवन में उसे जो सन्तोष मिलेगा वह काम के घन्टों के बाहर ही। काम के अरुचिकर और ऊबजनक होने पर भी इससे बचा नहीं जा सकता।

पहली आवश्यकता तो इस बात की है कि मज़दूर अपने काम में निजत्व का अनुभव करे। प्राचीन काल में तो वह अपने काम का स्वयं मालिक था। मशीनरी के आ जाने के कारण मज़दूर के लिए यह संभव नहीं रह गया है कि वह अपने काम का मालिक हो सके, लेकिन मालिक होने के गौरव का उसे बोध कराया जा सकता है। यह तब संभव है जब वह यह समझे कि यह काम 'मेरा' है या 'हमारा' है। 'हमारा' से तात्पर्य

उस छोटे से समूह से है जिसमें लोग एक दूसरे से परिचित होते हैं और अपनी संश्लिष्टता के प्रति सचेतन रहते हैं। राष्ट्रीयकरण के द्वारा यह संभव नहीं है, कारण पूंजीवादी व्यवस्था की तरह यहाँ भी मैनेजर और अधिकारी साधारण कर्मचारियों से दूर ही रहते हैं—उनके सम्बन्धों में निकटता नहीं होती। आवश्यकता है अंतरंग कार्य-व्यापारों में एक प्रकार की सीमित प्रजातंत्र-प्रणाली की; फोरमेन (foremen) और मैनेजरों का निर्वाचन वे लोग ही करें जो उनके नीचे काम करते हों।

अधिकारी-वर्ग का साधारण मज़दूरों के साथ अवैयक्तिक और विलग सम्बन्ध उद्योग-संगठन के हित के लिए भी घातक होता है। मिस्टर बर्नहम की पुस्तक 'Managerial Revolution' इन अवैयक्तिक और विलग सम्बन्धों के परिणामों का विषाद-पूर्ण चित्र उपस्थित करती है। उसकी भविष्य वाणी जिस विरसता की ओर संकेत करती है अगर उससे हमें दूर रहना है तो पहला काम प्रबन्ध-व्यवस्था (management) का प्रजातंत्रीकरण करना है। जेम्स गिल्सपाई (James Gillespie) ने अपनी पुस्तक 'Free Expression in Industry' में इस विषय का बहुत सुन्दर विवेचन किया है। उस पुस्तक से एक उद्धरण देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। वे कहते हैं—

"जब किसी व्यक्ति या समुदाय के सामने कोई गंभीर समस्या खड़ी हो जाती है और उसे वे ऊँचे अधिकारियों तक पहुँचा नहीं पाते तो एक प्रकार से निराशा घनी होने लगती है। औद्योगिक संगठन में भी नौकर-शाही की वही धांधली है जो राजनीतिक क्षेत्र में मिलती है—वही कठिनाई, वही विलंब, वही एक-दूसरे को लिखना-भेजना, वही असमर्थता और विवशता की दुहाई। लोग समझते हैं कि यदि प्रधानाधिकारी तक उनकी बात पहुँच पाती तो शायद कोई सुनाई हो जाती। प्रधानाधिकारी तक पहुँचने की इच्छा बहुत ही यथार्थ और महत्त्वपूर्ण है। कर्मचारियों के प्रतिनिधि उद्योगपति से महीने में एक बार मिलते हैं। उनकी इस मीटिंग का कोई महत्त्व न हो, यह बात नहीं है, किंतु वह मालिक और मज़दूर के बीच जो सीधा सम्बन्ध होना चाहिए उसका स्थान तो नहीं ले सकती। उनकी स्थिति में क्या सुधार आ सकता है जब कि कारिंदा चौधरी के पास जा रहा हो और चौधरी यह कह रहा हो कि उसकी तो दूसरे विभाग में बदली हो गई है, वह इस मामले में लाचार है, अधिक से अधिक वह दरख्वास्त सुपरिन्टेंडेंट के पास पहुँचा सकता है। सुपरिन्टेंडेंट उसे कार्य-विभाग के मैनेजर के पास भेज देता है और वह उसे आगामी मीटिंग के लिए रख छोड़ता है, या उस दरख्वास्त को दूसरे विभाग के द्वारा ऊपर पहुँचाने

की कोशिश की जाती है और वहाँ भी इसी प्रकार का क्रम चलता रहता है।

बड़ी-बड़ी कंपनियों में केवल निराशाजनक स्थिति ही नहीं होती, साधारण कर्मचारियों के मामलों को निपटाने के लिए वहाँ जो विधि है उसमें भी विचित्र गड़बड़ी है। कर्मचारी को भी मालूम नहीं कि कंपनी के कार्य में उसका क्या स्थान है और उसके योग का क्या मूल्य है। उसे यह भी पता नहीं कि यथार्थ मालिक कौन है, अतः वह यह भी नहीं जानता कि जेनरल-मैनेजर कौन है, और प्रधान मैनेजर से तो शायद भूल-चूक से ही उसने बात की हो। उत्पादन-विभाग, विक्रय-विभाग, योजना-विभाग, कुशल-क्षेम-विभाग आदि-आदि विभागों के मैनेजरों को वह अपने निकट पाता भी नहीं है। उनकी नौकरियाँ अच्छी हैं, काम कम है। साधारण कर्मचारियों के साथ उनका क्या सम्बन्ध, वे क्यों अपने आपको उनके समुदाय के व्यक्ति समझें?"

क्या राजनीति में और क्या उद्योग-धंधों में, प्रजातंत्र उस समय तक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वास्तविक यथार्थ नहीं हो सकता जब तक शासन अथवा प्रबन्ध को लोग 'पराया' समझते रहेंगे। साधारण वर्ग और अधिकारी-वर्ग के बीच इस प्रकार एक दीवाल खड़ी हो जाती है। अधिकारी-वर्ग के सथा अपनत्व न होने के कारण लोग उन्हें शत्रुता की दृष्टि से देखने लगेंगे—यह शत्रुता उस समय तक अक्षम रहती है जब तक वह विद्रोह का

रूप धारण नहीं कर लेती। उद्योग-धंधों के क्षेत्र में, जैसा मिस्टर गिल्सपाई ने उल्लेख किया है, इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है और प्रबन्ध-कार्य प्रायः बिना किसी अपवाद के एक-पक्षीय या अल्प संख्यकों के अधीन होता है। इस बीमारी को यदि पहले से ही काबू में नहीं लाया गया तो फिर उद्योग-संगठनों के बढ़ने के साथ-साथ यह भी बढ़ती ही जायगी।

जब से इतिहास का आरंभ हुआ है अधिकांश मनुष्यों को दरिद्रता, दमन और उत्पीड़न का भार उठाना पड़ा है। निरंकुश शासन और विरोधी सत्ता के अत्याचार को विवश होकर उन्हें सहना पड़ा है। अधिकारी-वर्ग उनके प्रति उदासीन रहा है। सभ्यता के अस्तित्व के लिए आज ये बुराइयाँ आवश्यक नहीं हैं। आधुनिक विज्ञान और टेकनिक को यदि मानवता की कल्याण-भावना से प्रेरित होकर काम में लाया जाय तो इन बुराइयों को दूर किया जा सकता है। अगर इस ओर हमने ध्यान नहीं दिया तो इस संसार को हम अपनी नासमझी से एक जेल बना डालेंगे और सब लोग उसकी चहारदिवारी में घिर जावेंगे—ऐसा जेल जो भयावह, निस्पंद और शून्य होगा, जहाँ आत्मा मर जायगी और आनन्द समाप्त हो जायगा। इस संकट से कैसे बचा जा सकता है, इस पर मैं आगे के दो भाषणों में विचार करूँगा।

पुनश्च —

आधुनिक युग में मशीन के प्रयोग से वस्तु की उत्तमता (quality) का किस प्रकार ह्रास होता है, इसका एक रोचक किंतु कष्टप्रद उदाहरण स्कॉटलैंड का ट्वीड (tweed) उद्योग है। हाईलैंड, हैब्राइडिज़, ऑर्कने और शेटलैंड के द्वीप हाथ से बुने ट्वीड-उद्योग में अपनी समता नहीं रखते थे, किंतु मशीन की प्रतियोगिता ने उन श्रमिकों पर अत्यन्त कठिन प्रहार किया है, और पार्लियामैंट की दोनों सभाओं (Houses) में जो वाद-विवाद हुए हैं उनके अनुसार क्रय-कर ने तो उनकी अवस्था को एक दम ही हीन कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि दस्तकारी से उनको जो रोटी मिलती थी वह बद हो गई और अपनी जीविका के लिए घर-बार छोड़कर या तो वे शहरों में जा कर बस गए या विदेश चले गए।

क्रय-कर से एक लाख से डेढ़ लाख पौंड का सालाना आर्थिक लाभ तो हो जाता है, पर इस निकट लाभ से कालांतर में जो हानि उठानी पड़ती है उसका भी कोई लेखा है ?

सब से पहली हानि तो स्थानीय और परंपरागत दस्तकारी की है। औद्योगिक क्रांति के आवेग में मज़दूरों के जो व्यवसाय चौपट हो गए थे उनकी तो मैं यहाँ बात भी नहीं करता। उनके श्रम-कौशल में दस्तकारी का जो उल्लास बिखरा रहता था वह उनसे छीन लिया गया। उनका जीवन कष्टसाध्य हो सकता था,

पर उनमें गौरव और आत्म-सम्मान की भावनाएँ थीं, और थी कठिनाइयों तथा संकटों के बीच मेहनत, मज़दूरी, और श्रम-कौशल से आगे बढ़ने की निष्ठा।

दूसरे, वस्तु की उत्तमता का कलात्मक और उपयोगी दोनों ही दृष्टियों से पतन हुआ है।

तीसरे, स्थानीय उद्योग-धंधों के नष्ट होने से शहरों की आबादी इस तरह बढ़ती जा रही है कि उसे रोकना मुश्किल हो रहा है, और अपनी नगर-योजनाओं में हम इसी बीमारी से बचना चाहते हैं। जो जुलाहे स्वतंत्र थे वे गंदी-घिनौनी वृहद् बांबियों जैसी शहर की बस्तियों में जाकर खो जाते हैं। उनकी आर्थिक सुरक्षा (security) अब उनके कौशल और प्रकृति की शक्तियों पर निर्भर नहीं होती, वह तो बड़े-बड़े उद्योग-संगठनों में खो जाती है। वहाँ एक की असफलता सब की असफलता है और उस असफलता के क्या कारण हैं इसे तो समझा ही नहीं जा सकता।

औद्योगिक क्रांति के स्वरूप को सूक्ष्मता से देखें तो दो बातें अक्षम्य हैं। एक तो यह कि हम अपने कार्य-व्यापारों के भावी परिणामों को आज अच्छी प्रकार समझते हैं, प्रारंभ में भले ही उद्योगपति उन भावी संकटों की कल्पना करने में असमर्थ रहे हों। दूसरी यह कि ये बुराइयाँ आज न तो उत्पादन की वृद्धि के लिए आवश्यक हैं और न श्रमिक के जीवन के भौतिक उपादानों

की वृद्धि के लिए ही। बिजली और मोटर-यातायात से छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को आर्थिक दृष्टि से विशेष प्रोत्साहन मिलता है, चूँकि इनके कारण यातायात और प्रबन्ध-व्यवस्था में जो अपार धन-राशि खर्च होती है वह बच जाती है। यदि किसी स्थान पर कोई ग्रामीण उद्योग-धंधा पनप रहा है तो धीरे-धीरे उसका यंत्रीकरण किया जा सकता है, लेकिन इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका विकास उसी स्थान पर होता रहे और उस धन्धे की इकाइयाँ छोटी-छोटी ही बनी रहें।

औद्योगीकरण की जिन बुराइयों का हमें अनुभव हो चुका है, उनसे संसार के उन भागों की रक्षा की जा सकती है जहाँ यह औद्योगीकरण अभी अपनी प्रारंभिक अवस्था में है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष को लीजिए। परंपरा से वह छोटे-छोटे गाँवों का देश है। यह बात बड़े दुर्भाग्य की होगी यदि उसके परंपरागत जीवन को, जिसमें कितनी ही बुराइयाँ हैं, सहसा और निमर्मतापूर्वक उस औद्योगीकरण से बदल दिया जाय जिसमें पहले से भी अधिक भयंकर बुराइयाँ हों। यों ही यहाँ के रहन-सहन का धरातल बहुत दरिद्र है। गाँधी इन संकटों को देखता था। चर्खे-कर्घे के पुनरुत्थान से उसने घड़ी की सुई को पीछे घुमा देने का प्रयत्न किया। कुछ अंशों में वह ठीक भी था, किंतु विज्ञान की दी हुई सुविधाओं से लाभ न उठाना भी तो बुद्धिमानी नहीं है। उन लाभों को तो उत्सुक होकर

अपनाना चाहिए जिससे देश की भौतिक समृद्धि हो, और गाँवों की स्वच्छ हवा, अपने छोटे से जातीय जीवन में लोगों की सम्मान-भावना अपने उत्तरदायित्व और कार्य के सुचारु संपादन में गौरव का बोध भी बना रहे। ये वस्तुएँ ऐसी हैं जो विशाल औद्योगिक नगरों में मज़दूरों के लिए प्रायः अप्राप्य हैं। हिमालय की नदियों को इतनी विद्युत्-शक्ति तो देनी ही चाहिए जिससे भारत के ग्राम-उद्योगों का शनैः शनैः यंत्रीकरण हो सके और वहाँ के जीवन में अनुपम सम्पन्नता आए; पर यह उन्नति ऐसी न हो जिससे औद्योगिक विकास ही ख़तरे में पड़ जाय, बाज़ार मंदा होने लगे और वैसा ह्रास तथा नैतिक पतन भी होने लगे जो परंपराओं के अकस्मात् टूटने पर देश के जीवन में आने लगता है।

५ व्याख्यान

नियन्त्रण और उत्प्रेरणा : उनके क्षेत्र

एक स्वस्थ और प्रगतिशील समाज के लिए केन्द्रीय नियन्त्रण और व्यक्ति तथा समुदाय की उत्प्रेरणा दोनों आवश्यक हैं; नियन्त्रण के अभाव में अराजकता आती है और उत्प्रेरणा के अभाव में स्थावरता। इस व्याख्यान में मैं कुछ ऐसे सामान्य सिद्धांतों पर पहुँचना चाहता हूँ जिनके आधार पर हम कह सकें कि किन बातों में नियन्त्रण होना चाहिए और किन चीज़ों को पूर्णतः अथवा अंशतः वैयक्तिक उत्प्रेरणा के लिए छोड़ देना चाहिए। ऐसे बहुत से गुण हैं जिन्हें हम समाज में देखना चाहते हैं, अथवा जिन्हें समाज में देखने की हम में इच्छा होनी चाहिए; इन गुणों में कुछ तो ऐसे हैं जो स्वभावतः स्थावर होते हैं और कुछ ऐसे हैं जो गतिशील। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि समाज के स्थावर गुण प्रायः सरकारी नियंत्रण

के उपयुक्त होते हैं, और गतिशील गुणों को व्यक्ति या समुदाय की उत्प्रेरणा से प्रोत्साहन मिलता है। यदि इस उत्प्रेरणा को बनाए रखना है, और विनाशक होने के स्थान पर इसे फलप्रद होना है तो उचित संस्थाओं से इसे पोषण मिलते रहना चाहिए, और उस स्थिति में सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि इन संस्थाओं की रक्षा का भार अपने ऊपर ले। यह तो स्पष्ट है कि अराजकता की स्थिति में न तो विश्व-विद्यालय ही चल सकते हैं, न वैज्ञानिक शोध-कार्य ही हो सकता है और न पुस्तकों का प्रकाशन ही संभव है, और तो और समुद्र तट पर आनन्द से छुट्टी भी नहीं काटी जा सकती। आज की पेंचीदी दुनिया में सरकार के बिना फलदायक उत्प्रेरणा नहीं रह सकती, किंतु दुर्भाग्य यह है कि उत्प्रेरणा के अभाव में भी सरकार चल सकती है।

मेरी समझ में सरकार के तीन प्राथमिक उद्देश्य होने चाहिए—सुरक्षा (security), न्याय (justice) और संरक्षण (conservation)। मनुष्य की सुख-शान्ति के लिए ये वस्तुएँ अत्यन्त आवश्यक हैं और केवल सरकार ही इन्हें जन-साधारण के लिए सुलभ बना सकती है। इसके साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि इनमें से कोई भी वस्तु स्वतः पूर्ण नहीं है। वे सापेक्ष हैं। आवश्यकता पड़ने पर मानवता के कल्याण के लिए इनमें से किसी भी वस्तु का थोड़ा-बहुत बलि-

दान किया जा सकता है। एक-एक कर के मैं इन पर यहाँ विचार करूँगा।

ज़िन्दगी और ज़मीन-जायदाद की हिफाज़त के अर्थ में सुरक्षा को स्टेट का प्राथमिक कर्तव्य सदैव ही माना गया है। बहुत सी स्टेटों ने अपने आज्ञाकारी नागरिकों की दूसरे लोगों से रक्षा की व्यवस्था तो की, किन्तु स्टेट से उनकी रक्षा आवश्यक नहीं समझी गई। स्टेट की नींव कितनी ही सुदृढ़ क्यों न हो, किन्तु एक व्यक्ति जब क़ैद किया जाता है और बिना किसी उचित कानूनी कार्रवाई के उसे दंड दिया जाता है, तो वहाँ पर सामान्य व्यक्ति के लिए सुरक्षा कहाँ है? और केवल कानूनी कार्रवाई पर ज़ोर देना पर्याप्त नहीं है जब तक कि न्यायाधीश स्वयं शासन के पाश से मुक्त न हो। सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दियों में ये ही विचार प्रमुख थे और उस समय लोगों के नारे थे—'प्रजा की स्वतन्त्रता', 'मनुष्य के अधिकार'। किंतु 'स्वतन्त्रता' और 'अधिकार' लोगों को स्टेट से ही मिल सकते थे और वह भी उसी अवस्था में जब कि स्टेट उदार हो। केवल पश्चिम में ही यह स्वतन्त्रता और अधिकार लोगों को मिल सके हैं।

आज के युग में पश्चिम वालों के लिए एक विशेष प्रकार की सुरक्षा आवश्यक हो गई है—शत्रु-राष्ट्रों के आक्रमण से बचाव। यह सुरक्षा अब तक लोगों को सुलभ नहीं हुई है और जैसे-जैसे युद्ध-कौशल में नए विकास होते जा रहे हैं, इसकी

आवश्यकता भी तीव्रतर होती जा रही है। यह सुरक्षा तभी संभव है जब विश्व में एक शासन हो और युद्ध के प्रधान अस्त्र-शस्त्रों पर नियन्त्रण हो। इस प्रसंग का मेरे विषय से निकट सम्बन्ध नहीं है, अतः इस पर मैं विशद विवेचन नहीं करूंगा। मैं ज़ोर देकर केवल यही कहूँगा कि जब तक विश्व के राष्ट्र एक शासन-सत्र में नहीं बंध जाते, तब तक जो कुछ हम मूल्यवान समझते हैं वह खतरे में है और किसी भी समय युद्ध की लपटों में वह स्वाहा हो सकता है।

ब्रिटेन में व्यवस्थापिका सभा के सामने आज़ सब से बड़ा लक्ष्य है आर्थिक सुरक्षा। बेकारी, बीमारी और वृद्धावस्था की लाचारी से आश्वासन मिलने के कारण मज़दूरों के जीवन में भविष्य की बहुत सी कष्टपूर्ण चिन्ताएँ कम हो गई हैं। चिकित्सा को भी जन-सुलभ बनाने का वहाँ प्रयत्न किया गया है जिसके फलस्वरूप जीवन की दीर्घता में वृद्धि हुई है और बीमारियों की संख्या में कमी। युद्ध की बात और है, अन्यथा पश्चिमी देशों में जीवन आज १६ वीं शताब्दी से अधिक सुरक्षित है और इस का मूल कारण विविध रूपों में सरकार का नियन्त्रण ही है।

इसमें सन्देह नहीं कि सुरक्षा एक अच्छी वस्तु है, किन्तु उसकी माँग करते समय लोग सीमा का उल्लंघन कर सकते हैं और वह खत्म हो सकती। यह आवश्यक नहीं कि सुरक्षित

जीवन सुखी जीवन भी हो, वह रट में पड़कर नीरस और शुष्क भी हो सकता है। बहुत से लोग अपने जीवन में और प्रायः जवानी में संकट और साहस की कुछ मात्रा का सहर्ष स्वागत करते रहते हैं, और यदि सुरक्षा के स्थावर जीवन से उनका जी ऊब चला तो युद्ध में ही वे आनन्द खोजने लगेंगे। अपने आप तो सुरक्षा स्टेट का निषेधात्मक कर्तव्य ही है, कारण इसकी उत्तेजना उसे भय से मिलती है। सुख-शान्ति के जीवन के लिए विधेयात्मक लक्ष्य की आवश्यकता सदा बनी रहती है, और उसे उत्तेजना आशा से मिलती है। साहसिकता में जो आशा दिखाई देती है वह संकटापन्न होती है, अतः उसमें भय की वृत्ति निहित है। किंतु जिस भय को जान-बूझकर ग्रहण किया जाय वह उतना बुरा नहीं होता जितना वह भय जो बाह्य परिस्थितियाँ आदमी के सिर पर लाद देती हैं। अतः न तो सुरक्षा से ही हमें संतोष कर लेना चाहिए और न यही सोचना चाहिए कि इससे किसी राम-राज्य की अवतारणा हो सकती है।

अब न्याय को लीजिए।

आधुनिक काल में न्याय और विशेषतः आर्थिक न्याय सरकार का कर्त्तव्य हो गया है। न्याय को आजकल लोग समानता के अर्थ में लेने लगे हैं, उस स्थिति की बात दूसरी है जहाँ असाधारण योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति के लिए असामान्य पारितोषिक का प्रश्न खड़ा होता है। यह असामान्य पारितोषिक

भी प्रायः सामान्य पारितोषिक से कुछ ही अधिक होता है अमेरिका और फ्रांस की क्रांतियों के समय से राजनीतिक न्याय, दूसरे शब्दों में प्रजातंत्र, लोगों का ध्येय रहा है, किंतु आर्थिक न्याय अपेक्षाकृत नवीन ध्येय है और इसके लिए अपेक्षाकृत अधिक सरकारी नियंत्रण अपेक्षित है। मेरी राय में साम्यवादियों की यह माँग ठीक ही है कि राष्ट्र के प्रमुख उद्योग-धंधों पर स्टेट का अधिकार होना चाहिए और विदेशी व्यापार पर काफ़ी नियंत्रण। साम्यवाद के विरोधी कह सकते हैं कि आर्थिक न्याय को भी खरीदा जा सकता है, भले ही उसके लिए अधिक कीमत क्यों न देनी पड़े, किंतु इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा कि उद्योग-धंधों और वित्त (finance) पर सरकार के नियंत्रण की काफ़ी आवश्यकता होती है।

आर्थिक न्याय की भी आख़िर सीमाएँ होती हैं, और पश्चिम में जो लोग इसके सब से प्रबल समर्थक हैं उन्हें भी आर्थिक न्याय की सीमाएँ स्वीकार करनी पड़ती हैं। उदाहरण के लिए आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लिए ऐसे उपाय खोजने ही पड़ेंगे जिनसे संसार के पिछड़े हुए देशों की स्थिति सुधर-सके—यह इसीलिए नहीं कि संसार की दुख-दरिद्रता को दूर करना वांछित है, किंतु इसलिए भी कि संहारक युद्धों से विश्व की रक्षा तब तक असंभव है जब तक ऐसी आर्थिक विषमताएँ यहाँ से उठ नहीं जातीं। एक ओर पश्चिम के समृद्ध देश हैं,

दूसरी ओर दक्षिणी-पूर्वी एशिया के ग़रीब मुल्क। इन देशों में आर्थिक समता लाने के लिए प्रयत्न होने ही चाहिएँ, किंतु यह प्रयत्न शनैःशनैः ही ठीक हैं अन्यथा समृद्ध देश भी असमृद्ध देशों के स्तर पर उतर सकते हैं, और उससे असमृद्ध देशों की स्थिति में भी कोई विशेष सुधार नहीं होगा।

सुरक्षा की तरह न्याय की भी सीमाएँ हैं और उसके लिए सुरक्षा से अधिक नियंत्रण आवश्यक है। जहाँ सब लोग या तो समान ग़रीब हैं या समान धनी, वहाँ न्याय है, किंतु यदि धनी व्यक्तियों को ग़रीब बनाने से ग़रीब धनी नहीं हो सकते तो सारे प्रयत्न विफल है। न्याय की माँग पर प्रतिबंध उस समय और भी अधिक आवश्यक हो जाता है जब समता की धुन में ग़रीब पिसने लगते हैं और उनकी अवस्था गिरने लगती है। ऐसा होना असंभव भी नहीं है। यदि शिक्षा की सुविधाएँ कम हो जायँ और कोई फल-प्रद उद्योग न हो तो ऐसा हो सकता है। यदि मिश्र और बेबिलोन में आर्थिक अन्याय नहीं होता तो लेखन-कला का आविष्कार कभी नहीं होता। किंतु आज सम्पन्न औद्योगिक देशों में, उत्पादन के आधुनिक तरीकों के होते हुए, सभ्यता के नाम पर आर्थिक अन्याय को जीवित रखने की आवश्यकता नहीं है। भय केवल इसी से है, और वह असंभव भी नहीं। उससे सचेत रहने की आवश्यकता है।

अब मैं अपने तीसरे उद्देश्य संरक्षण (conservation) पर आता हूँ।

सुरक्षा और न्याय की तरह संरक्षण भी स्टेट का प्रमुख कर्तव्य है। संरक्षण से मेरा तात्पर्य केवल पुरानी इमारतों और सौन्दर्य-स्थलों की रक्षा करना, सड़कों की मरम्मत करना और ऐसी ही अन्य जनोपयोगी वस्तुओं की ओर ध्यान देना नहीं है। युद्ध-काल के अतिरिक्त इन वस्तुओं की ओर सरकार ध्यान देती ही है। जिस वस्तु की ओर यहाँ मैं मुख्यतः आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह है संसार के प्राकृतिक द्रव्यों (resources) की रक्षा। यह बहुत ही महत्वपूर्ण विषय है पर इस ओर लोगों ने बहुत ही कम ध्यान दिया है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों से मनुष्य-जाति ने उद्योग-धन्धों और कृषि के लिए भूमि का और कच्चे द्रव्यों का निर्ममता-पूर्वक उपयोग किया है। प्राकृतिक सम्पत्ति का यह अपव्यय भीषणता के साथ हुआ है और हो रहा है। उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में तेल का उदाहरण लीजिए। संसार में तेल कितना है, यह तो लोगों को मालूम नहीं है, किन्तु यह तो प्रकट है कि उसकी मात्रा अपरिमित नहीं है। आज इसकी मांग उस सीमा तक पहुँच गई है जिसके कारण वह तीसरे विश्व-युद्ध की भूमिका का एक आधार हो सकती है। जब तेल अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं है तो अपने जीवन के क्रम में हमें बहुत-कुछ अदल-बदल कर लेना

चाहिए। यदि हम तेल के स्थान पर अणु-शक्ति का प्रयोग करने लगें तो उसका भी परिणाम यही होगा कि यूरेनियम (Uranium) और थोरियम (Thorium) के स्टॉक समाप्त होने लगेंगे। उद्योग-धन्धों की जो अवस्था आज है उसके लिए प्राकृतिक द्रव्यों का प्रचुर परिमाण अनिवार्य है, पर इस प्रकार का अपव्यय कब तक चल सकता है।

कुछ लोगों के अनुसार कृषि की स्थिति उद्योग-धन्धों से भी अधिक चिंताजनक है। मिस्टर (Vogt) ने अपनी पुस्तक Road to Survival में इस समस्या को बहुत ही स्पष्ट रूप से उठाया है। कुछ भाग्यशाली प्रदेशों को छोड़कर जिनमें पश्चिमी यूरुप भी एक है, कृषि के जो तरीके प्रचलित हैं उनसे भूमि का उर्वरा-शक्ति का ह्रास तेज़ी के साथ होने लगता है। अमेरिका में जो डस्ट बाउल (Dust Bowl) बन गया है वह हमारे विनष्टकारी तरीकों का अच्छा उदाहरण है। साथ ही साथ जन-संख्या में जैसी वृद्धि होती जा रही है उसे देखते हुए अगले पचास वर्षों में खाद्य-स्थति का बिगड़ जाना स्वाभाविक है। अतः अभी से उस ओर समुचित ध्यान आवश्यक है। इस स्थिति से बचने के लिए जो उपाय काम में लाए जाने चाहिए वे कृषि-शास्त्र के विद्यार्थियों को भली प्रकार विदित हैं, किन्तु विद्यार्थी सब कुछ नहीं कर सकते। सरकार ही उन उपायों को अमल में ला सकती है, यदि वह लोक-अप्रिय

होने के लिए तैयार हो। इस समस्या की लोगों ने बहुत ही अवज्ञा की है। जो व्यक्ति युद्ध की सर्वहारा भूख से विश्व की रक्षा और शांति की कल्पना करते हैं, उन्हें इस समस्या पर ध्यान देना आवश्यक है। अन्न-संकट से बचने के लिए जो युद्ध आज छिड़ेगा वह पिछले किसी भी युद्ध से अधिक भयंकर होगा, कारण दो विश्व-युद्धों के बीच जन-संख्या बहुत बढ़ गई है। कल जो शासन-व्यवस्थाएँ होंगी उनके सामने युद्ध रोकने की समस्या के बाद शायद कृषि-सुधार की समस्या ही सबसे प्रमुख होगी।

सुरक्षा, न्याय और संरक्षण को मैंने सरकार के प्रमुख कर्त्तव्य कहा है चूँकि इन क्षेत्रों में केवल सरकार ही काम कर सकती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सरकार के और कर्त्तव्य हैं ही नहीं। दूसरे क्षेत्रों में सरकार का कर्त्तव्य मुख्यतः लोगों की उत्प्रेरणा (सरकार से असम्बद्ध) को बढ़ावा देना है। उसे इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि इस उत्प्रेरणा के उपयुक्त विकास के लिए लोगों को अवसर मिलें। उत्प्रेरणा के अराजक और अनिष्टकरी रूप भी होते हैं, पर सभ्य समाज में उन्हें बढ़ावा नहीं दिया जा सकता। उत्प्रेरणा के दूसरे रूप भी हैं, जैसे प्रतिष्ठित आविष्कारकों की उत्प्रेरणा। इसे सभी लोग उपयोगी मानते हैं, किन्तु कुछ मध्यम कोटि के आविष्कारक भी होते हैं जिनके कार्य-व्यापारों के परिणाम के सम्बन्ध में पहले से ही कुछ

नहीं कहा जा सकता। पर इन्हीं व्यक्तियों के प्रयास से मनुष्य जाति के गौरव की वृद्धि हुई है और यह आवश्यक है कि उनकी उत्प्रेरणा को स्वतन्त्र-विकास के लिये अधिक से अधिक अवसर दिए जाँ।

स्टेट के नियंत्रण से एकरूपता (uniformity) आती है जो कुछ वस्तुओं के लिए वांछित है और कुछ के लिए अवाँछित। मुसोलिनी से पूर्व की बात है, फ्लोरेंस में तो सड़कों पर चलने-फिरने का नियम कुछ और था और आस-पास के शहरों के लिये दूसरा। इस वैविध्य से असुविधा होती थी, यों बहुत सी बातों में वैविध्य अच्छा होता है। फासिज़्म ने तो बहुत से वांछित वैविध्य पर भी प्रतिबध लगा रखा था। अलग-अलग दलों में मत-भेद विवधता को प्रकट करता है, किन्तु वह ठीक ही है। अस्तित्व के लिए जो संघर्ष मचा हुआ है, उसके सम्बन्ध में सब कुछ कहा जा सकता है। भाग्यवश वह संघर्ष सक्षम के अस्तित्व को प्रकट कर सकता है। किन्तु यदि इसके लिये बौद्धिक प्रतियोगिता होने लगे तो साधनों पर अंकुश होना आवश्यक ह। इसके लिये न तो युद्धों की आवश्यता ह और न हत्या-काँडों की, न उन लोगों को बन्दी बनाना ज़रूरी है जो दूसरी विचार-धारा को मानते हैं और न उन लोगों की रोटी ही छिननी चाहिये जो उनके मत को स्वीकार नहीं करते। जहाँ प्राइवेट उद्योग-संगठन का प्रभाव है, या जहाँ रेनेसाँस-युग

की इटली अथवा १८ वीं शताब्दी की जर्मनी की तरह बहुत-सी छोटी-छोटी स्टेट हैं, वहाँ पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण एकरूपता का भय नहीं रहता। किन्तु जब स्टेट बड़ी होने लगती है और प्राइवेट उद्योग-संगठन छोटे-छोटे तो परंपरागत प्रणालियों से मानसिक अनेकरूपता संभव नहीं होती। यूरुप में ऐसा होता आया है। फिर एक ही उपाय रह जाता है कि स्टेट अखाड़े में आवे और कुछ ऐसे क्वीन्सबेरी नियम प्रतिष्ठित करे जिनके आधार पर प्रतियोगिता हो।

आज लेखक और कलाकार ही ऐसे व्यक्ति हैं जो दलबंदी से दूर रह कर भाग्यवश वैयक्तिक रूप में अपनी उत्प्रेरणा का महत्त्वपूर्ण उपयोग कर सकते हैं। जब मैं कैलिफोर्निया में था तो वहाँ दो ऐसे व्यक्ति थे जो संसार को उस स्टेट में काम करने-वाले प्रवासी मज़दूरों की अवस्था से अवगत कराना चाहते थे। उनमें से एक उपन्यासकार था और दूसरा एक विश्वविद्यालय का अध्यापक। उपन्यासकार ने इस समस्या को अपने उपन्यास में लिया, अध्यापक ने अपने भाषण-प्रवचन में। उपन्यासकार का भाग्य खुल गया, उसने कमाई की। अध्यापक अपनी नौकरी से भी हाथ धो बैठा और उसे मुसीबत की ज़िन्दगी के लिए तैयार होना पड़ा।

यद्यपि लेखक की स्वतंत्र उत्प्रेरणा आज थोड़ी-बहुत मात्रा में जीवित है, पर उस पर भी कितने ही संकट छाए हुए

हैं। अगर पुस्तकों का प्रकाशन स्टेट के हाथ में हुआ जैसा कि रूस में है, तो वे ही पुस्तकें निकलेंगी जो स्टेट चाहेगी। यदि स्टेट ने पुस्तकों के प्रकाशन का अधिकार तटस्थ व्यक्तियों के हाथ में नहीं छोड़ दिया तो यही अधिक संभव है कि वे ही पुस्तकें प्रकाशित हों जिनसे राजनीतिज्ञों को असुविधा न होती हो। यही बात समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस क्षेत्र में अनेकरूपता अनिष्टकारी सिद्ध होगी किंतु अनियंत्रित स्टेट-साम्यवाद में ऐसा होना असंभव नहीं है।

अपने तीसरे व्याख्यान में मैं यह बता चुका हूँ कि पुराने ज़माने में वैज्ञानिक एकांत में काम कर सकते थे जैसा कि लेखक आज भी करते हैं; कैवेंडिश, फरादे और मेंदेल को संस्थाओं से सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता, और डार्विन भी संस्था से उसी सीमा तक सम्बन्धित थे जहाँ तक सरकार से उसे बिगल (Beagle) पर यात्रा करने में सहायता मिली थी। आज संस्था से दूर रह कर काम नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक शोध-कार्य और अन्वेषण के लिए क़ीमती साधनों का होना ज़रूरी है। सरकार की या विश्व-विद्यालय की सहायता के बिना आज विज्ञान के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता। किन व्यक्तियों को ये सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ और किन अवस्थाओं में ये सुविधाएँ दी जा सकती हैं, यह विषय आज बहुत महत्त्व रखने लगा है। अगर केवल उन्हीं व्यक्तियों को सुविधाएँ दी जाती हैं जो प्रच-

लित मतवादों के कट्टर समर्थक हैं तो वैज्ञानिक प्रगति शीघ्र ही रुक जायगी। इस से उसी प्रकार की शास्त्रीय सत्ता का आरंभ होने लगेगा जिसने मध्य युगों में विज्ञान की गति को कुंठित कर दिया था।

राजनीति में वैयक्तिक उत्प्रेरणा का किसी संस्था से सम्बद्ध होना स्पष्ट और आवश्यक है। प्रायः दो गिरोह एक साथ मिल जाते हैं—पार्टी और निर्वाचन-क्षेत्र। यदि आप कोई सुधार लाना चाहते हैं तो पहले अपनी पार्टी को उसके लिए सहमत कर लीजिए और तब निर्वाचन-क्षेत्र से अपनी पार्टी को स्वीकृत कराइए। इसमें संदेह नहीं कि आप सीधे सरकार के द्वारा भी अपने काम को आगे बढ़ा सकते हैं, पर यह कठिन है और उन विषयों में तो बहुत ही कठिन जो जनता में विशेष रुचि पैदा करते हैं। जब यह सम्भव नहीं होता तो वांछित उत्प्रेरणा के लिए काफ़ी समय और शक्ति आवश्यक होती है और उस पर भी सफलता की आशा दूर ही रहती है। ऐसी स्थिति में बहुत से लोग अपनी वर्तमान स्थिति से ही संतोष कर लेते हैं। पाँच वर्ष में एक बार वोट देना है; उसी उम्मीदवार को वे अपना वोट दे देते हैं जो उन्हें सुधार करने का विश्वास दिलाता है।

आधुनिक विश्व के संगठन में संस्था से सम्बद्ध वैयक्तिक उत्प्रेरणा उन लोगों में ही होनी चाहिए जब तक कि वह संस्था छोटी न हो। अगर आप किसी छोटी-सी समिति के

सदस्य हैं तो उसकी गति-विधि पर प्रभाव डालने की आशा कर सकते हैं। किंतु देश की राजनीति पर आपका क्या प्रभाव पड़ सकता है जब तक कि आप कोई असाधारण व्यक्ति न हों या आप किसी विशेष स्थिति में न हों। बीस मिलियन वोट देने वालों में एक सामान्य व्यक्ति की गिनती ही क्या है ? इसमें संदेह नहीं कि दूसरों पर शासन करने में आप का एक बटा बीस मिलियन भाग है, पर आप पर जो शासन है उसमें भी आप का भाग केवल एक बटा बीस मिलियन ही है। दूसरों पर शासन करने से आप दूसरों से शासित होना अधिक अनुभव करते हैं। आप सोचने लगते हैं कि शासन पराया है, आपका नहीं है। इस विलग-भावना के कारण शासन के प्रति आप अनुदार हो जाते हैं। आप को ऐसा लगता है कि शासन के संचालक जो व्यक्ति हैं उन्हें आपने नहीं चुना है और न उन व्यक्तियों ने जो आप के विचारों से सहमत हैं। इस स्थिति में आप के व्यक्तिगत राजनीतिक विचार वैसे नहीं होते जिनके प्रश्रय की आशा प्रजातंत्र से की जानी चाहिए। ये विचार प्रायः वैसे ही होते हैं जो एकाधिपत्य के आतंक में पनपा करते हैं।

मनुष्य की साहसिकता और कार्य-क्षमता का पुनर्जीवन उसी अवस्था में संभव है जब कि छोटी-छोटी संस्थाओं को उतने अधिकार दे दिये जावें जिनसे वहाँ काम करने वाला व्यक्ति अपनी वैयक्तिक उत्प्रेरणा को अक्षुण्ण रख सके। उद्योग-

संगठन के बड़े होने पर संस्था का भार मज़दूर की वैयक्तिकता को कुचल डालता है। केंद्रीय नियंत्रण की आवश्यकता तो फिर भी बनी रहती है, कम से कम उन्हीं कारणों से जिनका उल्लेख इस भाषण के प्रारम्भ में हम कर चुके हैं। इस आवश्यक नियंत्रण को बनाए रखने के लिए जितने अधिकार अपेक्षित हैं उन्हें अपने पास रखकर स्टेट को चाहिए कि अन्य अधिकार भौगोलिक, औद्योगिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में काम करने वाली संस्थाओं में बाँट दे। उन संस्थाओं के पास इतनी अधिकार-शक्ति तो होनी ही चाहिए कि लोगों का उनमें आकर्षण बना रहे, और उत्साही व्यक्तियों को यह बोध हो कि जिन संस्थाओं से उनका सम्बन्ध है वहाँ उनकी आवाज़ है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आर्थिक स्वतंत्रता का होना आवश्यक है। उत्प्रेरणा-शक्ति के लिए सब से घातक बात वह होती है जब कि एक नपी-तुली नीति का पालन किया जाता है—वह नपी-तुली नीति जिसे उस केंद्रीय शासन से समर्थन प्राप्त होता है जो स्वयं न तो उस नीति से ही अभिज्ञ है और न उसके उद्देश्यों को ही जानता है। ब्रिटेन में, जहाँ सब कुछ केंद्रीय शासन से परिचालित है, प्रायः यही होता है। अगर उर्वर मस्तिष्कों को कुंठित नहीं करना है तो शासन-व्यवस्था की इस रूढ़िवादिता को कम करना होगा, उसमें लोच होना आवश्यक है। किसी भी परिपुष्ट शासन-व्यवस्था को यह समझ लेना चाहिए कि जिन व्यक्तियों

की काम करने में रुचि और तत्परता है उनके हाथ में अधिक शक्ति का रहना आवश्यक है।

संस्थाओं के अधिकारों में संशोधन करना और उनकी सीमाओं को स्थिर करना सरल कार्य नहीं है। कितनी ही कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इस कार्य को हाथ में लेने के लिए जो सामान्य सिद्धान्त अपनाया जा सकता है वह यह है कि बड़ी-बड़ी संस्थाएँ छोटी-छोटी संस्थाओं को वे अधिकार सौंप दें जिनके स्थानांतरित होने से उनके अपने कार्यों में रुकावट में न पहुँचती हो। भौगोलिक संस्थाओं पर ही कुछ देर के लिए हम विचार करें। यह वांछित है कि विश्व-संघ के कुछ अधिकार उत्तराधिकार के रूप में नगर या ग्राम की कौंसिलों को दिए जायँ। विश्व-संघ का प्रधान कार्य है युद्ध को रोकना, और इस कार्य के लिए उसे जिन अधिकारों की आवश्यकता है उन्हें वह अपने पास रखे। इसके अन्दर सैन्य-परिचालन, अस्त्र-शस्त्र पर नियंत्रण, संधि-विग्रह के अधिकार और राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को निपटाने के अधिकार भी सम्मिलित हैं। किंतु विश्व-संघ को अपने सदस्य-राष्ट्रों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जहाँ संधि की मान्यता-अवमान्यता का प्रश्न खड़ा हो जाय वहाँ यह हस्तक्षेप भी हो सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय शासन को प्रांतीय कौंसिलों और प्रांतीय कौंसिलों को ज़िला या नगर कौंसिलों को जितने अधिकार सौंपे जा सकें सौंप देने चाहिए। प्रारम्भ

में कुछ समय तक कार्य-संचालन में योग्यता का अभाव खटक सकता है, किन्तु धीरे-धीरे इस त्रुटि का परिहार हो जायगा, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि योग्य व्यक्तियों को इस बात में गौरव अनुभव होगा कि जिन संस्थाओं से वे सम्बद्ध हैं वे अधिकार-सम्पन्न हैं।

आज कल (स्थानीय स्वायत्त शासन) ऐसे व्यक्तियों के मनोरंजन का साधन माना जाता है जो सम्पन्न हैं और अवकाश का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्हीं के पास इतना समय होता है कि वे इस काम को करें। नौजवान या सुयोग्य स्त्री-पुरुषों में ऐसे कुछ ही लोग निकलते हैं जो स्थानीय शासन में रुचि लेते हों, कारण उनके सामने जीवन की समस्या अधिक उग्र होती है। अगर इस रोग का निदान करना है तो स्थानीय शासन के लिए भी वैतनिक कार्यकर्त्ता होने चाहिए। कारण वही है जिस से बाध्य होकर पार्लामेन्ट के सदस्यों को पारिश्रमिक दिया जाता है।

संस्था भौगोलिक हो या सांस्कृतिक अथवा आचार-विचार सम्बन्धी, उसके सम्बन्ध दो प्रकार के होंगे—एक तो वे सम्बन्ध जो अपने सदस्यों के साथ होंगे और दूसरे वे जो अन्य व्यक्तियों के साथ। अपने सदस्यों के साथ संस्था के सम्बन्ध कैसे होने चाहिए, इसे सदस्यों के स्वतंत्र निर्णय के लिए ही छोड़ देना उचित है; हाँ, कानून की ओर से कोई रुकावट नहीं होनी

चाहिए। ये सम्बन्ध सदस्यों के निर्णय के लिए छोड़े जाने वांछित हैं, किंतु कुछ सिद्धान्त ऐसे होते हैं जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है और यदि प्रजातंत्र का कोई अर्थ होता है तो इन सिद्धान्तों की अवज्ञा नहीं की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए किसी बड़ी उद्योग-संस्था को लीजिए। समाजवादियों का पूंजीवाद पर सब से कठोर प्रहार आय के प्रश्न को लेकर होता है, न कि अधिकार के प्रश्न को लेकर। राष्ट्रीयकरण के द्वारा उद्योग का स्वामी राष्ट्र हो जाता है, किंतु अधिकारों में प्रायः उतनी ही विषमता बनी रहती है जितनी पूंजीवादी व्यवस्था में थी। यदि नई व्यवस्था में कोई अन्तर है तो यही कि पहले सत्ता उद्योग-पतियों के हाथ में थी, अब अफ़सरों के हाथ में। यह तो निश्चित है कि किसी भी बड़ी उद्योग-संस्था को चलाने के लिए पदाधिकारियों की आवश्यकता होगी; उनके अधिकार सामान्य कर्मचारियों से अधिक भी होंगे। आवश्यकता इस बात की है कि इन अधिकारों में विषमता अधिक से अधिक उतनी ही हो जितनी कि अनिवार्य है; और फिर उत्प्रेरणा-शक्ति का संस्था के अधिक से अधिक लोगों में बँट जाना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में मि० जॉन स्पेडेन लेविस की पुस्तक (Partnership for all—A 34-year old Experiment in Democracy) बहुत ही रोचक है। पुस्तक की रोचकता का कारण यह है कि वह एक ऐसे व्यक्ति के दीर्घकालीन व्यावहारिक अनुभवों का संकलन

है जिसमें पब्लिक स्पिरिट के साथ-साथ नव-नव प्रयोग करने की साहसिकता है। जहाँ तक व्यवसाय का वित्त (finance) सम्बन्धी प्रश्न है, उसने अपने कर्मचारियों को लाभ का साझीदार बनाया। इसके अतिरिक्त उसकी यह भी चेष्टा रही है कि उसके कर्मचारी इस बात का अनुभव करें कि जिस संस्था के वे सदस्य हैं, उसके प्रबन्ध में, उसके संचालन में उनका सक्रिय भाग है। इतना होते हुए भी मुझे संदेह है कि इन तरीकों से किसी उद्योग-संस्था को प्रजातंत्र-मूलक बनाया जा सकता है। उसने एक ऐसा तरीका भी निकाला जिसके अनुसार प्रमुख पद उन्हीं व्यक्तियों को दिए जायँ जो सब से अधिक योग्य हैं। वेतन की विषमता के वह पक्ष में है और इसके लिए वह जो तर्क रखता है वह भी रोचक है। उसका कहना है कि वेतन में विषमता इसलिए नहीं होती कि कठिन कार्य के लिए अधिक वेतन हो, पर वह इसलिए भी आवश्यक है कि अच्छे वेतन से अच्छे कार्य के लिए स्फूर्ति मिलती है। उसने लिखा है, "यह सोचना असंगत है कि एक व्यक्ति की योग्यता अथवा उस योग्यता से काम लेने की इच्छा, गणित के शब्द में, एकरूप (constant) है, और कोई चीज़ यदि परिवर्तित होती है तो व्यक्ति को प्राप्त वेतन। यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति की कार्य करने की इच्छा ही नहीं, उसकी योग्यता भी, वेतन पर निर्भर है। लोगों को अच्छा वेतन इसलिए नहीं मिलता कि वे सुयोग्य हैं, वे

सुयोग्य इसलिए भी हैं कि उन्हें अच्छा वेतन मिलता है।"

इस सिद्धान्त का क्षेत्र केवल इतना ही नहीं है जितना मिस्टर लेविस ने रखा है, यह उससे कहीं अधिक व्यापक है। यह बात केवल वेतन पर ही नहीं, वरन् सम्मान और सामाजिक प्रतिष्ठा (status) पर भी लागू होती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, वेतन-वृद्धि का प्रमुख महत्त्व सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि है। एक वैज्ञानिक के कार्य की जब प्रशंसा की जाती है और उसके महत्त्व को स्वीकार किया जाता है तो उसे उसी प्रकार की स्फूर्ति मिलती है जैसी दूसरे क्षेत्र में काम करने वाले एक व्यक्ति को वेतन-वृद्धि से। यथार्थ में आवश्यकता जिस वस्तु की है, वह है आशा और उल्लास की भावना। दो महा-युद्धों के परिणाम-स्वरूप आज योरुप में इसी का अभाव है।

किन्तु स्वतंत्र उत्प्रेरणा का होना अत्यन्त आवश्यक है और यह भी ज़रूरी है कि योग्य व्यक्तियों को अपनी योग्यता के लिये क्षेत्र मिलें।

यह तो उन सुधारों का केवल एक पक्ष हुआ जो विशाल संगठनों के लिये वांछनीय है। दूसरी पक्ष यह है कि जिन व्यक्तियों के हाथ में सत्ता है उनके हाथ में एकछत्र अधिकार न हों। एक समय था जब सुधारकों ने सदियों तक राजाओं की शक्ति के विरुद्ध मोर्चा लिया, फिर एक समय आया जब उन्होंने पूँजीपतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इस दूसरे

मोर्चें में उनकी विजय का क्या अर्थ है यदि पूँजीपतियों के स्थान पर पदाधिकारियों (officials) को बैठा दिया जाय ? इसमें तो संदेह नहीं कि पदाधिकारियों के मार्ग में कितनी ही व्यावहारिक कठिनाइयाँ होती हैं—उन्हें किसी भी समय किसी ऐसे निर्णय पर पहुँचने की आवश्यकता हो सकती है जिसके लिये प्रजातंत्री व्यवस्था की ढील-ढाल से काम नहीं चल सकता। किन्तु यह आवश्यक है कि सामान्य (general) नीतियों का निर्धारण करते समय प्रजातंत्री व्यवस्था से काम लिया जाय, और लोगों को इस बात की-स्वतंत्रता हो कि वे बिना किसी आतंक या सज़ा के भय के पदाधिकारियों के कार्यों की आलोचना कर सकें। उत्साही व्यक्तियों में अधिकार-लिप्सा का होना स्वाभाविक है, अतः अधिकांश पदाधिकारियों में सत्ता के लिए अधिक से अधिक मोह हो सकता है। अतः विशाल उद्योग-संगठनों के लिए प्रजातंत्र की व्यवस्था उतनी ही आवश्यक है जितनी राजनीतिक क्षेत्रों के लिए, और यहाँ भी उसकी गति-विधि पर उतना ही ध्यान रखा जाना चाहिए जितना राजनीतिक क्षेत्रों में रखा जाता है।

उद्योग-संगठन का अपने क्षेत्र से बाहर के लोगों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह एक दूसरी कोटि में आता है। केवल सत्ता और अधिकार के आधार पर इन सम्बन्धों को निश्चित नहीं करना चाहिए, अर्थात् संगठन की मोल-तौल करने की शक्ति पर

ही उन्हें आश्रित नहीं मानना चाहिए। जहाँ मैत्री पूर्ण रीति-नीति से ये सम्बन्ध स्थिर न हों, वहाँ किसी तटस्थ सत्ता की सहायता ली जा सकती है। इस सिद्धान्त के लिए किसी अपवाद की आवश्यकता नहीं है। यह बात दूसरी है कि समग्र दृष्टि से विश्व एक हो जाय और राजनीतिक सम्बन्धों के लिए बाहर कोई प्रदेश ही न हो। हाँ, यदि एच० जी० वेल्स के अनुसार विभिन्न विश्व-मण्डलों में ही युद्ध हो जाय तो किसी अन्तःसौर-मण्डलीय सत्ता की आवश्यकता हो सकती है।

राष्ट्रों में पारस्परिक भेद होते हैं और जब तक उनसे तनातनी पैदा न हो उन्हें हम हेय नहीं कह सकते। कुछ समय तक विदेश में रहने से हम वहाँ के ऐसे गुणों से अवगत हो जाते हैं जिनकी हमारे देश में कमी है। यह बात सभी देशों पर लागू होती है। देश-विदेश की बात तो दूसरी है, एक देश के अन्दर ही विभिन्न प्राँतों में अन्तर होता है। विभिन्न पेशों में विभिन्न प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। स्वभाव की एकरूपता या संस्कृति की एकरूपता वांछित वस्तु नहीं है। जीवतत्व-गत विकास व्यक्तियों अथवा जातियों के आंतरिक भेद पर ही निर्भर रहा है, और सांस्कृतिक विकास का आधार वह भेद है जो उपार्जित ज्ञान से सम्बद्ध है। जब भेद का अस्तित्व नहीं होता तो छाँटने-चुनने की गुञ्जाइश नहीं रहती। आज की दुनिया में इस बात का अत्यधिक भय है कि कहीं प्राँतों में सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत

अधिक समानता पैदा न हो जाय। इस भय से बचने का एक अच्छा उपाय यह है कि विभिन्न समुदायों को अपने-अपने क्षेत्रों में अधिक से अधिक स्वतंत्रता दी जाय।

सत्ता और उत्प्रेरणा के विभिन्न क्षेत्रों पर जो सिद्धान्त लागू होने चाहिए उन्हें मेरी समझ में, उन विभिन्न वृत्तियों के अनुरूप समझाया जा सकता है जिनसे मानव-स्वभाव का निर्माण होता है। एक ओर हम में अधिकरण की वृत्तियाँ हैं जो उन वस्तुओं को बाँधे रखना चाहती हैं जो हमारे पास हैं और प्रायः उन वस्तुओं को पाना चाहती हैं जो दूसरों के पास हैं। दूसरी ओर हम में ऐसी क्रियात्मक वृत्तियाँ भी हैं जो संसार के सामने कोई ऐसी वस्तु रखना चाहती हैं जो कहीं से ग्रहण की हुई नहीं है। यह वस्तु सामान्य भी हो सकती है, जैसे कोई छोटा-मोटा बाग-बगीचा, अथवा कोई महान् वस्तु जैसे शेक्स-पियर और न्यूटन की देन। मोटे रूप में कह सकते हैं कि अधिकरण की वृत्तियों के संतुलन और नियंत्रण का कार्य सर-कार का है। क्रियात्मक वृत्तियों को सरकार से प्रोत्साहन मिल सकता है पर उनके लिए प्रेरणा और शक्ति का स्रोत वैयक्तिक या सामुदायिक स्वतंत्रता में ही होना चाहिए।

भौतिक पदार्थ मानसिक क्रियाओं से कहीं अधिक अधि-करण की वस्तु हैं। जो आदमी रोटी खा रहा है, वह दूसरे को उससे वंचित कर रहा है, किंतु एक व्यक्ति यदि कविता लिख

रहा है या उसके रस का उपभोग कर रहा है, तो वह दूसरे व्यक्ति को ऐसा करने से वंचित नहीं कर रहा है। दूसरा व्यक्ति उससे उतना ही आनन्द या उससे भी अधिक आनन्द ग्रहण कर सकता है। यही कारण है कि भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में न्याय का महत्व है, पर मानसिक व्यापारों के लिये जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है अवसर और ऐसा वातावरण जिससे कार्य-सिद्धि की आशा कल्पना-मात्र न होकर बुद्धिसंगत हो। जिन व्यक्तियों में सर्जनात्मक शक्ति होती है उन्हें भौतिक प्रलोभनों से स्फूर्ति नहीं मिलती; ऐसे कवि या वैज्ञानिक कम ही हुए हैं जिन्होंने अपार ऐश्वर्य संचित किया हो या उसकी कामना की हो। सुकरात को राज्य-सत्ता ने मौत के घाट पहुँचा दिया, किंतु अंत तक उसके मुँह पर दिव्य शान्ति थी, इसीलिए न कि उसने अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर लिया था। अगर वह सम्मान और प्रतिष्ठा के भार से लाद दिया जाता पर काम करने से रोक दिया जाता तो इसे वह मृत्यु से भी अधिक कठोर दंड मानता। जिस राज्य में एक सत्ता का प्रभुत्व होता है, जहाँ विज्ञापन के सभी साधनों पर सत्ता का अंकुश होता है, वहाँ मौलिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति इस कठोर दंड के पाठ से कुचल दिया जाता है। कानून का दण्ड भले ही उसे न भुगतना पड़े, पर वह अपने विचारों का प्रकाशन नहीं कर सकता। जिस जाति में यह सब

कुछ होता है वह मनुष्य जाति के सामूहिक जीवन में कोई महत्व-पूर्ण योग नहीं दे सकती।

लोभी और लुटेरी मनोवृत्तियों का नियंत्रण अत्यावश्यक है, अतः राष्ट्रों और राष्ट्र-संघ का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हम मरना नहीं चाहते, इसीलिए जीने से हमें सन्तोष नहीं हो सकता—हम तो आनन्द, उत्साह और स्फूर्ति के साथ जीना चाहते हैं। इसके लिए सरकार कुछ दूर तक हमारा साथ दे सकती है, वह कुछ अंशों में उन स्थितियों को पैदा कर सकती है जिनमें ये वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें, लेकिन यह तभी सम्भव है जब वह सुरक्षा के नाम पर हमारी उन अनियंत्रित या असंस्कृत वृत्तियों का गला न घोंट डाले जिन से जीवन को रस और गति मिलती है। व्यक्ति के निजी जीवन का महत्व है और वृहद् संस्थाओं-संगटनों के भीषण भार के नीचे उसे कुचल डालना अनुचित है। आधुनिक टेकनीकों से इसी बात का भय है और उससे सचेत रहने में ही हमारा कल्याण है।

६. व्याख्यान

वैयक्तिक और सामाजिक नीति-शास्त्र

अपने अन्तिम व्याख्यान में मैं दो बातें उपस्थित करना चाहता हूँ। एक तो मैं संक्षेप में उन निष्कर्षों को दुहरा देना चाहता हूँ जिनका विवेचन पिछले व्याख्यानों में कर चुका हूँ, दूसरे, सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्तों को वैयक्तिक नीति-शास्त्र से सम्बद्ध करना चाहता हूँ। इससे व्यक्ति का कुछ पथ-प्रदर्शन हो सकता है। मनुष्य का भविष्य संकटों से घिरा हुआ है, बहुत सी बुराइयों का हमने सामना भी किया है, बहुत से ख़तरे हमें दिखाई भी पड़ते हैं, फिर भी कुछ ऐसी संभावनाएँ हैं जिनके आधार पर अपने भविष्य के सम्बन्ध में हम कुछ आश्वस्त हो सकते हैं। ये आशाएँ केवल काल्पनिक नहीं हैं और जहाँ तक मेरी बात है मैं उनमें विश्वास भी करता हूँ। ये आशाएँ ऐसी भी नहीं हैं जो सुदूर भविष्य में चरितार्थ होती हों।

अपने निष्कर्षों पर ही पहले हम दृष्टि डालें। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक कार्य-व्यापारों के दो उद्देश्य होते हैं। सुरक्षा और न्याय के लिए सरकार का केन्द्रीय नियंत्रण आवश्यक है और यदि उस नियंत्रण को सक्षम होना है तो केन्द्रीय गवर्नमेन्ट को विश्व गवर्नमेन्ट के निर्माण की ओर अभिमुख होना चाहिए। इसके विपरीत उन्नति के लिए वैयक्तिक उत्प्रेरणा की उतनी अधिक से अधिक मात्रा अपेक्षित है जो सामाजिक व्यवस्था के साथ निभ सके।

इन उद्देश्यों को हम सब से अधिक जिस तरीके से सिद्ध कर सकते हैं वह है निक्षेपण-(devolution) प्रणाली। विश्व-सरकार को युद्ध रोकने की शक्ति अपने हाथ में रखनी चाहिए और अन्य क्षेत्रों के लिए राष्ट्रों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए। इसी प्रकार राष्ट्रों को चाहिए कि वे अपनी स्थानीय संस्थाओं को अधिक से अधिक अधिकार सौंप दें। औद्योगीकरण के सम्बन्ध में यह कभी नहीं सोच लेना चाहिए कि राष्ट्रीयकरण से सारी समस्याएँ हल हो सकती हैं। एक विशाल उद्योग-संगठन के लिए स्वायत्त शासन की काफ़ी मात्रा चाहिए, उदाहरण के लिए रेलवे को लीजिए। उद्योग-संगठन का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर उसमें काम करने वाले मज़दूरों का स्टेट के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं होना चाहिए जैसा कि उद्योगपतियों के साथ पहले हुआ करता था। जिन चीज़ों का विचारों

की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध हो जैसे अख़बार, पुस्तकें, राजनीतिक प्रोपेगँडा, उन्हें यथार्थ प्रतियोगिता के लिए छोड़ देना चाहिए। यह आवश्यक है कि उन पर न तो सरकार का ही नियंत्रण हो और न किसी समुदाय-विशेष का ही अंकुश हो। यह प्रतियोगिता भी संस्कृत और बौद्धिक होनी चाहिए, न कि आर्थिक या उससे भी परे सैनिक या फ़ौजदारी।

सांस्कृतिक विषयों में तो उन्नति अनेकात्मकता पर बहुत कुछ निर्भर है। इस क्षेत्र में वे संस्थाएँ जो सरकार के नियंत्रण से एक दृष्टि से मुक्त हैं बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे विश्वविद्यालय, या विद्वानों के अन्य समाज। यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि वैज्ञानिकों को ऐसे राजनीतिक नेताओं की इच्छा के सामने झुकना पड़ता है जो विज्ञान के बारे में कुछ भी नहीं जानते और प्रायः सच्ची प्रगति के शत्रु होते हैं। पुलिस और पैसे की ताक़त से वे अपने घृणित निर्णय भी डंके की चोट मनवाते हैं। उदाहरण के लिए रूस को लिया जा सकता है। इस स्थिति से बचा तभी जा सकता है जब कि राजनीतिक नेताओं की गति-विधि को उस क्षेत्र तक सीमित रखा जाय जिसमें वे योग्य माने जाते हैं। उन्हें यह समझने का अधिकार नहीं है कि वे संगीत, दर्शन और जीव-विज्ञान में भी दख़ल देने के काबिल हैं। मैं यह नहीं चाहता कि इस देश के अन्दर इन मामलों में कोई प्रधान-मन्त्री—भूतकालीन,

वर्तमान, या भावी—अपनी वैयक्तिक रुचि बरते, भले ही उसकी रुचि असंदिग्ध ही क्यों न हो ।

सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के विपरीत अब मैं वैयक्तिक नीति-शास्त्र के प्रश्न को लेता हूँ । न तो कोई आदमी पूर्णतः स्वतंत्र ही है और न कोई पूर्णतः गुलाम ही। जहाँ तक व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न है उसे अपने जीवन के लिए कुछ वैयक्तिक नीति-मूल्यों की आवश्यकता होती है। कुछ लोग कह सकते हैं कि उसे केवल अपने समाज के निर्धारित नीति-मूल्यों को ही मानना चाहिए। लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ, नृ-विज्ञान का कोई भी विद्यार्थी इस अन्तर से संतुष्ट नहीं हो सकता। समाज के रूढ़िगत नीति-मूल्यों को चुनौती देने के कारण ही बहुत सी अमानुषिक प्रथाएँ उठ गई हैं जैसे, नर-बलि, मनुष्य के माँस का भक्षण, उसके सिर का शिकार। मनुष्य के सामने सुन्दर जीवन फैला पड़ा है; अगर आदमी उसका यथार्थ उपयोग करना चाहता है तो उसे जाति के विश्वासों, आचार-विचारों और रीति-रिवाजों का आलोचक होना चाहिए, न कि उन्हें आँखें मूँद कर मानता जाय जैसा कि लोग प्राय: करते हैं।

बहुत सी बातों में आदमी अपनी निष्ठा के कारण समाज की प्रतिष्ठित धारणाओं से स्वतंत्र आचरण चाहता है। इन स्वतंत्र आचरणों पर विचार करते समय यह समझ लेना

चाहिए कि प्रथा और क़ानून में अन्तर है। सामाजिक प्रथा का विरोध करना एक बात है और क़ानून की अवज्ञा करना दूसरी बात है। क़ानून की अवज्ञा करने के लिए बहुत ही विशेष आधार चाहिए। इसका कारण यह है कि सामाजिक व्यवस्था के लिए भी थोड़ी बहुत क़ानून की इज़्ज़त ज़रूरी है। अगर आदमी क़ानून को ठीक नहीं समझता तो उसे अधिकार है कि वह उसे बदलने की चेष्टा करे, यह उसका कर्तव्य भी हो सकता है; लेकिन उसे तोड़ने का अधिकार तो बिरली अवस्था में ही व्यक्ति को हो सकता है। मैं यह मानता हूँ कि कुछ अवस्थाएँ ऐसी होती हैं जिनमें क़ानून तोड़ना कर्तव्य हो जाता है। जब आदमी अपने अन्दर से यह अनुभव करने लगे कि क़ानून की आज्ञा मानना पाप है तो उसके विरुद्ध आचरण उसके लिए कर्तव्य हो जाता है। आदमी की निष्ठा को जिस बात से धक्का लगे उसका विरोध वह कर सकता है। वह भले ही ग़लत हो, किंतु आप यह नहीं कह सकते कि उसे अपनी निष्ठा के अनुरूप आचरण करने का अधिकार नहीं है। क़ानून के बनाने वाले जब बुद्धिमान होते हैं तो जहाँ तक संभव है वे इस बात का प्रयत्न करते हैं कि ऐसे ही क़ानून रचे जायें जिनसे लोगों की निष्ठा को वैसा धक्का न लगे जिसके कारण उन्हें ग़ैर-क़ानूनी काम करना पड़े।

मैं समझता हूँ, इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिए

कि ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं जिनमें क्रान्ति न्याय्य है। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ सरकार इतनी भ्रष्ट है कि उसे पलट डालने में ही भलाई है, भले ही उससे अराजकता का भय हो। यह भय बहुत यथार्थ है। इंगलैंड की सन् १६८८ की क्रान्ति और अमेरिका की सन् १७७६ की क्रान्ति इतिहास की स्मरणीय और सफल क्रान्तियों में से हैं। किंतु जिन लोगों ने इन क्रान्तियों का नेतृत्व किया उनके हृदय में कानून की इज़्ज़त थी। जहाँ क़ानून के लिए इज़्ज़त नहीं होती वहाँ क्रान्ति या तो अराजकता लाती है या डिक्टेटरशिप। क़ानून की आज्ञा मानना यद्यपि कोई अखंड सिद्धान्त नहीं है, किंतु उस पर ज़ोर देना आवश्यक है, और उसके अपवाद उन्हीं अवस्थाओं में स्वीकार करने चाहिए जब बहुत सोचने-समझने के बाद वे ठीक मालूम पड़ें।

ये समस्याएँ ऐसी हैं जो नीति-शास्त्र के द्वन्द्व को व्यक्त करती हैं। यह द्वन्द्व कितना ही चक्कर में डालने वाला क्यों न हो, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

नीतिशास्त्र की मान्यताओं के सदा से दो उद्‌गम रहे हैं और दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं—एक राजनीतिक और दूसरा व्यक्ति की धार्मिक एवं नैतिक धारणाओं से सम्बद्ध। ओल्ड टेस्टामेंट (Old Testament) में दोनों अलग-अलग मिलते हैं, एक लॉ (Law) के रूप में और दूसरा प्रॉफिट (Prophets) के रूप में। मध्ययुग में इस प्रकार का

विभेद बना हुआ था, एक वह नैतिकता जिसे धर्म-पीठ (hierarchy) प्रतिष्ठित करते थे, और दूसरी वह आचरण की पवित्रता जिसकी शिक्षा संत और ऋषि दिया करते थे, और जिसे वे स्वयं पालन करते थे। आज भी नैतिकता के दो प्रकार हैं—१. वैयक्तिक; २. नागरिक। नीति-शास्त्र में इस द्वन्द्व को दूर नहीं किया जा सकता। नागरिक नैतिकता के अभाव में जातियाँ विनष्ट हो जाती हैं; वैयक्तिक नैतिकता के अभाव में उनके अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं रहता। अतः विश्व के कल्याण के लिए नागरिक और वैयक्तिक दोनों प्रकार की नैतिकता समान रूप से आवश्यक है।

नीति-शास्त्र का लक्ष्य केवल यही नहीं है कि आप के पड़ोसी के प्रति वह आपकी कर्तव्य-भावना को निर्धारित करे, भले ही वह कर्तव्य-भावना कितनी ही औचित्यपूर्ण क्यों न हो। जनता के प्रति कर्तव्य निभाने से ही जीवन सुन्दर नहीं हो जाता, व्यक्ति का निजी उत्कर्ष भी आवश्यक है। आदमी अंशतः ही सामाजिक प्राणी है, पूर्णतः नहीं। उसके पास विचार हैं, भावनाएँ हैं, वृत्तियाँ हैं; उसके पास बुद्धिमानी भी हो सकती है, मूर्खता भी; वह महान् भी हो सकता है, नीच भी; वह प्रेम भी कर सकता है, घृणा भी। यदि जीवन को विवर्ण नहीं बन जाना है तो उसके भावों, विचारों और वृत्तियों में जो सुन्दर है उसके विकास के लिए उचित क्षेत्र होना ही चाहिए। निर्जन

एकांत में रहकर कुछ लोग सुखी हो सकते हैं, पर यदि समाज में रहकर व्यक्ति को काम करने की स्वतंत्रता नहीं होती तो उतने लोग भी समाज में सुखी नहीं हो सकते।

वैयक्तिक उत्कर्ष का एक विशाल अंश हमारे आचरण से सम्बन्ध रखता है, किंतु उसका एक दूसरा पक्ष भी है। दूसरों के प्रति आप का कोई कर्तव्य है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, और यदि अपने क्षुद्र मनोरंजन के लिए आप उसकी अवहेलना करते हैं तो आपकी आत्मा आप को कोसेगी; किंतु यदि कुछ देर के लिए आप संगीत की स्वर-लहरी या सूर्यास्त के सौंदर्य में विभोर हो जाते हैं तो आप को इस बात की आत्म-ग्लानि नहीं होगी कि आपने अपना समय नष्ट किया हैं। वैयक्तिक उत्कर्ष में कौन से तत्त्व होने चाहिए, व्यक्ति की इस धारणा पर समाज और राजनीति का आतंक खतरनाक है जो कुछ मैं यहाँ कह रहा हूँ वह किसी नीति शास्त्र की रूढ़िगत धारणाओं पर आधारित न होने पर भी ईसाई धर्म के नीति-शास्त्र से सहमत है। सुकरात और अपॉसल् (Apostles) ने यह घोषित किया कि हमें आदमी के बजाय ईश्वर की आज्ञा माननी चाहिए और गॉस्पेल (Gospels) भी जितने ज़ोर के साथ अपने पड़ोसियों को प्यार करने के लिए कहते हैं उतने ही ज़ोर के साथ ईश्वर को प्यार करने की आज्ञा देते हैं। धर्म के सभी महान् नेताओं और सभी महान् कलाकारों तथा बुद्धि-जीवी

अन्वेषकों ने अपनी क्रियात्मक वृत्तियों के अनुकरण में नैतिक आस्था का परिचय दिया है और इसमें उन्हें नैतिक उल्लास भी मिला है। गॉस्पेल जिसे ईश्वर के प्रति कर्तव्य-भावना कहते हैं, उसका आधार यही वृत्ति है, और वह धर्म-शास्त्र के विश्वास से विलग नहीं की जा सकती। अपने पड़ोसी के प्रति मेरा जो कर्त्तव्य है, अथवा मेरा पड़ोसी मुझ से जिस कर्त्तव्य की आशा रखता है, वही मेरा सम्पूर्ण कर्त्तव्य हो, यह आवश्यक नहीं। यदि मुझमें कोई दृढ़ संकल्पात्मक निष्ठा है, तो मुझे उसका पालन करना चाहिए भले ही सरकारी व्यवस्था से उसका विरोध हो। और इसी से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि यदि समाज को विशेष आपत्ति न हो तो उससे मुझे इतनी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए कि मैं अपनी संकल्पात्मक निष्ठा का निर्वाह कर सकूँ।

आदमी की कर्तव्य-भावना को समाज के अत्यधिक दबाव से मुक्त होना ही चाहिए, पर उसे अपने कार्य में सहज रुचि भी होनी चाहिए। केवल कर्तव्य-भावना से कार्य नहीं होते। एक कलाकार अथवा एक वैज्ञानिक ऐसे कार्य में जुट सकता है जिसकी सामाजिक उपयोगिता हो, किंतु केवल कर्तव्य-भावना से ही वह अपना काम नहीं कर सकता। उसे अपने काम में दिलचस्पी होनी चाहिए, अन्यथा यदि वह चित्रकार है तो उसके चित्रों में जान नहीं होगी, और यदि वह वैज्ञानिक है तो उसके अनुसंधानों का कोई महत्त्व नहीं होगा।

आदमी के वैयक्तिक कार्यों को सामाजिक कर्तव्यों से नीतिशास्त्र की दृष्टि से हेय नहीं मानना चाहिए। इसके विपरीत आदमी के अच्छे से अच्छे कार्य-व्यापार कुछ तो ऐसे होते हैं जिनके बारे में वह अनुभव करता है, कम से कम भावना की दृष्टि में, कि वे सामाजिक न हो कर वैयक्तिक हैं। अपने तीसरे भाषण में मैं बता चुका हूँ कि संत, ऋषि, कवि, वैज्ञानिक आदि साधारण व्यक्ति नहीं होते—वे द्रष्टा होते हैं, मूलतः उन की स्वतंत्र इकाइयाँ होती हैं। जिस कार्य को वे उचित समझते हैं, उसमें उनकी निष्ठा होती है और उसके सम्बन्ध में वे किसी बाहरी अंकुश को नहीं सह सकते। इस विरोध के कारण वे अपने युग में प्रताड़ित भी होते हैं पर आगे आने वाली संतति उन्हें ही आदर की दृष्टि से देखती है। संसार में जिन वस्तुओं को हम सब से अधिक महत्त्व देते हैं, वह सब इन्हीं की देन है। यह देन केवल धर्म, कला और विज्ञान के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, पर वह हमारे सारे आचार-विचार, व्यवहार, व सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित किए हुए है। यह समझ लेना चाहिए कि यह व्यापक प्रभाव उन्हीं व्यक्तियों का होता है जो सामान्य प्राणियों की तरह रूढ़िग्रस्त नहीं होते।

यदि मनुष्य के जीवन को विरस और शुष्क नहीं होना है तो यह समझना आवश्यक है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका उनकी उपादेयता से परे भी महत्त्व होता है। जो

उपयोगी है उसकी उपयोगिता इसमें है कि वह एक साधन है और जिस वस्तु के लिए वह साधन है, उसके मूल्य को उपयोगिता की तुला पर नहीं तौलना चाहिए। उसका अपना महत्त्व है अन्यथा वह उपयोगिता स्वयं एक भ्रम है।

साध्य और साधन के बीच संतुलन होना आवश्यक है, पर यह कार्य सरल नहीं है। यदि आप साधन को अधिक महत्त्व देते हैं तो यह कह सकते हैं कि एक सभ्य और बर्बर, एक वयस्क और बालक, एक आदमी और जानवर के भेद को इस बात से मालूम किया जा सकता है कि वे साध्य और साधन को अपेक्षाकृत कितना महत्त्व देते हैं। एक सभ्य व्यक्ति अपने जीवन का बीमा करवा लेता है, बर्बर उसकी परवाह नहीं करता; एक वयस्क व्यक्ति प्रतिदिन अपने दाँत साफ़ करता है, बच्चा केवल दबाव से यह काम करता है; एक आदमी अपनी रोटी के लिए मेहनत-मज़दूरी करता है, जानवर इसकी आवश्यकता नहीं समझता। कल के आराम-सुख के लिए आज हम कष्टकर और अरुचिकर कार्य करना भी वांछित समझते हैं। मानसिक विकास के लिए यह दूरदर्शिता आवश्यक उपक्रम है। किंतु यह दूरदर्शिता इतनी सरल नहीं है जितनी हम समझते हैं—इसके लिए वृत्तियों के संयमन की आवश्यकता है। नीतिवादी इसके महत्त्व को समझते हैं, और वे तो भविष्य की फल-प्राप्ति से आज के त्याग और संयम पर अधिक बल देते हैं। उचित कार्य

इसलिए करना चाहिए क्योंकि वह उचित है, इसलिए नहीं कि उस से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। आज कुछ जोड़ कर रखना चाहिए क्योंकि सभी बुद्धिमान लोग ऐसा करते हैं, इसलिए नहीं कि आपके पास इतना धन जमा हो जाय जिससे आपके दिन आनन्द से कटें। इसी प्रकार की और भी युक्तियाँ वे देते हैं।

किंतु जो लोग साधन से अधिक साध्य को महत्त्व देते हैं, वे इन युक्तियों के विरोध में तर्क कर सकते हैं, और उनकी युक्तियों में भी उतना ही सत्य है जितना विरोधी युक्तियों में। एक प्रौढ़ अवस्था के धनी व्यापारी को लीजिए; चिंता और काम के बोझ से जवानी में ही उसे मंदाग्नि हो गई, उसकी अवस्था अब दयनीय है। वह तो रूखी रोटी खाता है और उस पर पानी पीता है, किंतु उसके अतिथि, जिन्हें किसी बात की परवाह नहीं, मौज़ की उड़ाते हैं। उसे आशा थी कि अथक परिश्रम के बाद उसने इन वर्षों में जो धन पैदा किया है उससे वह आनन्द के साथ जीवन बिताएगा, पर उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। यदि आज उसे किसी बात में आनन्द का बोध हो सकता है तो यही कि वह अपने लड़कों पर अपनी सम्पत्ति का रौब डाल सकता है। और जब लड़कों की बारी आएगी तो वे भी इसी अवस्था-दुर्वस्था का भोग करेंगे। कंजूस व्यक्ति साधन को इतना अधिक महत्व देते हैं कि उन्हें अपने शरीर को कष्ट देना भी स्वीकार होता है। ऐसे व्यक्ति को

कोई बुद्धिमान् नहीं कहता। कंजूस की बीमारी तो भयंकर है, पर इसकी मामूली अवस्थाएँ भी हो सकती हैं। उनकी ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। अगर साध्य के प्रति कुछ भी सजगता न हो तो जीवन का रस और आनन्द जाता रहेगा; फलस्वरूप उत्साह और स्फूर्ति के लिए लोग ऐसे मार्ग अपना सकते हैं जो अत्यन्त भयङ्कर हैं जैसे, युद्ध, क्रूरता, षड्यंत्र, विनाश-लीला।

जो लोग अपने आपको व्यवहार-कुशल कहते हैं और इस बात का गर्व करते हैं, वे प्राय: साधनों में ही अधिक व्यस्त रहते हैं। पर सारी बुद्धिमानी उन्हीं के बाँटे नहीं पड़ी है, अगर आधी उनके पास है तो आधी दूसरों के पास भी है, और उसे ध्यान में रखते हुए जब हम विचार करते हैं तो सारे आर्थिक कार्य-व्यापारों और मनुष्य के जीवन का अर्थ ही बदला हुआ नज़र आता है। तब इस प्रश्न की आवश्यकता नहीं रह जाती कि उत्पादकों ने क्या पैदा किया है और उपभोक्ता ने उपभोग के द्वारा उत्पादन में क्या योग दिया है। इसके विपरीत हमारा प्रश्न होता है : उत्पादक और उपभोक्ता के जीवन में वह कौनसी वस्तु है जो उनके जीवन में रस का संचार करती है? ऐसा उन्होंने क्या देखा, जाना या अनुभव किया है जिससे उनके जीवन की सार्थकता प्रकट होती हो? उन्हें क्या किसी नवीन ज्ञान का आलोक मिल गया है? क्या प्रेम और मित्रता में वे

परिचित हुए हैं ? क्या उन्होंने चमकीली धूप का, फूलों की सुगन्धि का, बसन्त की बहार का आनन्द लिया है ? क्या उन्होंने जीवन के उस उल्लास का अनुभव किया है जो सीधी, सरल जातियाँ नाच-गान में प्रकट करती हैं ? एक बार लॉस एँजेलिज़ में लोग मुझे मेक्सिकन कॉलनी दिखाने के लिए ले गए। उन्हें वे लोग खानाबदोश, आलसी व्यक्ति कहते थे, पर मुझे कुछ ऐसा लग रहा था मानो उन्हीं के जीवन में वास्तव में कोई ऐसी वस्तु है जिससे उनका जीवन वरदान है, अभिशाप नहीं। और दूसरी ओर वे व्यक्ति थे जिनके पास मैं ठहरा हुआ था—ऐसे व्यक्ति जिनका जीवन ही व्यग्र और कोलाहलपूर्ण था। जब मैंने उन्हें यह बात समझाने की कोशिश की तो वे विमूढ़-से दिखाई पड़े—यह सब उनकी समझ में नहीं आ रहा था।

प्रायः लोग यह भूल जाते हैं कि राजनीति, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र सामान्य रूप से साधनों के साथ सम्बद्ध हैं, साध्य के साथ नहीं। हमारी राजनीतिक और सामाजिक विचार-धारा का झुकाव जिस ओर होता है उसे हम 'शासक की भ्रांति' (Administrator's Fallacy) कह सकते हैं—इससे मेरा तात्पर्य उस आदत से है जिसके कारण लोग समाज को एक पूर्ण संघटन मान बैठते हैं—एक ऐसा रूप जो सुन्दर है और व्यवस्था का मूर्तिमान आदर्श है, ऐसा संघटन जिसके विभिन्न अङ्ग सम्यक् गुँथे हुए हैं। किंतु उस समाज के अस्तित्व

का कोई अर्थ नहीं होगा जिसमें केवल बाह्य रूप पर ही ध्यान दिया जाता है। उसका वास्तविक उद्देश्य सदस्यों के जीवन में सुन्दरता का नियोजन करना है। सदस्यों के अन्दर ही वास्तविक मूल्य खोजने चाहिएँ। अच्छा समाज वह है जो अपने सदस्यों के लिए अच्छे जीवन का स्रोत है, न कि वह समाज जो सदस्यों से विलग होकर अपना उत्कर्ष दिखाना चाहता है।

जब यह कहा जाता है कि राष्ट्र एक संगठन (organism) है, तो लोग एक ऐसी धारणा का प्रचार करने लगते हैं जिसकी सीमाओं और त्रुटियों को न जानने पर संकट खड़ा हो सकता है। मनुष्य और अन्य श्रेष्ठ प्राणी ही सच्चे अर्थ में संगठित जीव हैं—जो कुछ अच्छा या बुरा आदमी के सिर पर पड़ता है, वह उसके सम्पूर्ण शरीर से सम्बद्ध होता है, न कि किसी एक अंग-विशेष तक सीमित। अगर मेरे दाँत में कष्ट है या पाँव के अँगूठे में दर्द है, तो मुझे कष्ट है—उस कष्ट का बोध ही नहीं होता यदि जिस अंग में दर्द है उसका सम्बन्ध मस्तिष्क की स्नायुओं के साथ नहीं होता। किन्तु जब हरफर्ड-शायर का किसान बर्फीले तूफान से घिर जाता है तो लंदन-स्थित शासन को हिम-पात का कष्ट नहीं सहना पड़ता। यही कारण है कि पूर्ण व्यक्ति अपने अच्छे-बुरे को सहता है, न कि उसके शरीर का कोई अंग-विशेष या बहुत से व्यक्तियों का पूरा समूह। यह विश्वास भ्रामक है कि व्यक्तिगत रूप में लोगों से सम्बद्ध

न होकर सामूहिक रूप में उनकी अच्छाई-बुराई का अस्तित्व हो सकता है। यह भूल ऐसी है जो सीधे एकतंत्रात्मक (totalitarian) शासन का मार्ग तैयार करती है, और अतः वह भयावह है।

कुछ दार्शनिकों और राजनीतिज्ञों का विचार है कि नागरिकों की कल्याण-वृद्धि का साधन होने के परे भी स्टेट में निजी उत्कर्ष हो सकता है। इस विचार से सहमत होने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। 'स्टेट' एक भावात्मक वस्तु (abstraction) है; उसे सुख-दुख के उद्रेक का अनुभव नहीं होता, उसके पास अपनी आशाएँ नहीं, भय नहीं; और जब हम यह कहते हैं कि स्टेट के निम्न उद्देश्य हैं तो हमारा तात्पर्य यही है कि ये उद्देश्य उन व्यक्तियों के हैं जो स्टेट का परिचालन करते हैं। जब हम भाव-रूप की अपेक्षा पदार्थ-रूप से विचार करते हैं तो स्टेट के स्थान पर कुछ ऐसे व्यक्तियों को पाते हैं जिनके पास अन्य लोगों से अधिक शक्ति होती है। इसलिए स्टेट की सराहना यथार्थ में उन थोड़े से व्यक्तियों की सराहना है जो शासन का संचालन करते हैं। मूलतः यह सिद्धान्त दोषपूर्ण हुआ और कोई भी प्रजातंत्रवादी इसका सहन नहीं कर सकता।

एक और नैतिक सिद्धान्त है जो मेरी दृष्टि से अपूर्ण और अपर्याप्त है; इसे जीवतत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्त कह सकते हैं यद्यपि मेरा यह तात्पर्य नहीं कि यह जीवतत्त्व-वेत्ताओं का सिद्धान्त

है। सृष्टि के विकास पर विचार करने पर यह सिद्धान्त निकाला जाता है। अस्तित्व के लिए जो संघर्ष हुआ है वह अनेक जटिल रूपों से होता हुआ आज मनुष्य के रूप तक पहुँचा है। इस धारणा के अनुसार मनुष्य का रक्षण (survival) या मनुष्य जाति का रक्षण ही प्रमुख कर्तव्य है। जिस वस्तु से पृथ्वी पर मनुष्य की संख्या बढ़ती हो वही इस धारणा के अनुसार ठीक है, और जिससे जन-संख्या का ह्रास हो वही बुरी।

इस यांत्रिक और गणित-सी नपी-तुली धारणा को मानने का मैं कोई कारण नहीं देखता। सारे संसार में जितने मनुष्य हैं संख्या में उनसे अधिक चीटियाँ एक एकड़ मैदान में मिल सकती हैं, पर संख्या के आधार पर हम चींटियों को मनुष्य से श्रेष्ठ नहीं मानते। और ऐसा कौन संवेदनशील व्यक्ति होगा जो अमन-चैन से ज़िन्दगी बसर करने वाले थोड़े से आदमियों की अपेक्षा एक विशाल दीन-दरिद्र जन-राशि को पसन्द करेगा?

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य का रक्षण (survival) एक आवश्यक वस्तु है, किंतु वह तो एक शर्त है और जिसके लिए वह शर्त है उसका महत्व है। अपने आप रक्षण का मूल्य नहीं भी हो सकता। आज के वैज्ञानिक युग में रक्षण के लिए सरकार की आवश्यकता बहुत अधिक है, किंतु जिन वस्तुओं से रक्षण को मूल्य मिलता है उनके स्रोत प्रधानतः सरकार के

बाहर ही होने चाहिए। इन विरोधी आवश्यकताओं में सामंजस्य स्थापित करना ही इन भाषणों का लक्ष्य है।

अपने युग में संकटों को ध्यान में रख अपने व्याख्यानों के सूत्रों को सहेज कर मैं कुछ निष्कर्षों को दुहरा देना चाहता हूँ। मेरा यह विश्वास है कि मनुष्य-जाति का भविष्य संकटों से आच्छन्न होते हुए भी आशापूर्ण है। यह आशा काल्पनिक नहीं बुद्धि-संगत है।

कुछ लोग सामाजिक संश्लिष्टता को अधिक महत्व देते हैं और कुछ लोग वैयक्तिक उत्प्रेरणा को। प्राचीन यूनानियों के समय से इन पक्षों में संघर्ष चला आ रहा है। इस प्रकार के सतत् विवाद में सत्य दोनों ओर रहता है। अतः इस विवाद का कोई बना-बनाया समाधान नहीं रखा जा सकता, किंतु इसका कोई अच्छा से अच्छा समाधान हो सकता है तो यही कि उसे रूढ़ नहीं होना चाहिए और उसमें दोनों ओर सत्य के सत्य को ग्रहण करने की क्षमता होनी चाहिए।

इतिहास में सदैव, जैसा कि अपने दूसरे भाषण में मैं बता चुका हूँ, अत्यधिक अराजकता अत्यधिक सरकारी नियंत्रण के युगों का आवर्त्तन रहा है। विश्व-सरकार की स्थिति में भले ही दूसरी अवस्था हो अन्यथा हमारे समय में भी व्यक्ति की उत्प्रेरणा से अधिक सत्ता के नियंत्रण की ओर ही झुकाव मिलता है। जिन लोगों के हाथ में वृहद् उद्योग-संगठन हैं वे यह भी भूलते

जा रहे हैं कि मनुष्य हाड़-माँस का बना हुआ प्राणी है, उसकी आवश्यकताएँ होती हैं। वे मनुष्य को प्रणाली (system) के साथ फिट कर देना चाहते हैं, न कि प्रणाली को मनुष्य के साथ।

इन जटिल-गुम्फित उद्योग-संगठनों के अन्दर कर्मचारी में सहज रुचि का जो अभाव दिखाई पड़ता है उसका कारण भी यही है कि इन विशाल क्षेत्रों पर दूरस्थ सत्ता का अत्यधिक नियंत्रण है।

विकेन्द्रीकरण से एक लाभ यह है कि उससे मनुष्य के भविष्य के लिए आशा बँधती है और व्यक्ति के रुचिकर कार्य-व्यापारों के लिए अवसर जुटते हैं। यदि हमारा राजनीतिक-चिंतन बड़ी-बड़ी समस्याओं और विश्व-संहार के संकटों पर ही केन्द्रित हो जाय तो फिर जीवन में नैराश्य ही घना होगा। व्यक्ति के स्वभाव और पार्टी-प्रेम के अनुसार युद्ध का भय, क्रांति का भय, प्रतिक्रिया का भय उस पर हावी हो सकता है। पर यदि आप इने-गिने प्रभावशाली व्यक्तियों में नहीं हैं, तब संसार के इन बड़े-बड़े मसलों पर आपका क्या प्रभाव पड़ सकता है? किन्तु जो समस्याएँ छोटी-छोटी हैं, जैसे आपके शहर की, आपके ट्रेड यूनियन की, या आपकी राजनीतिक संस्था की स्थानीय शाखा की समस्याएँ,—उन पर आप अच्छा-खासा प्रभाव डाल सकते हैं, उससे कुछ आशा भी बँधती है। बड़ी-बड़ी समस्याओं के

हल के लिए यह आवश्यक है। दिन-रात के युद्ध ने, तंगी ने, खर्च (finance) की मुसीबतों ने जान आफ़त में डाल रखी है। चारों ओर लोग थके से लगते हैं। आशा मुरझाई सी, व्यर्थ ही सब्ज़ बाग़ दिखाने वाली लगती है। आरम्भ में यदि सफलता के कुछ भी लक्षण दिखाई दें तो नैराश्य और अवसाद के लिए वे दवा हो जाते हैं। और अधिकांश मनुष्यों के लिए सफलता का अर्थ होता है हमारी बहुत सी समस्याओं का दूर हो जाना, और तब इतनी स्वतंत्रता भी होती है कि बड़ी-बड़ी समस्याओं पर विचार केन्द्रित किए जायँ।

आज संसार जिन कट्टर राजनीतिक सम्प्रदायों का शिकार हो रहा है उनमें दो सब से अधिक शक्तिशाली हैं—एक पूंजीवाद, दूसरा साम्यवाद। जहां तक मैं समझता हूँ इनमें से कोई भी सम्प्रदाय अपने कट्टर रूप में बुराइयों से हमारा त्राण नहीं कर सकता। पर ये बुराइयाँ रोकी जा सकती हैं। पूंजीवाद में उत्प्रेरणा के लिए अवसर केवल कुछ लोगों को ही मिलते हैं और साम्यवाद में एक दीन-भाव की सुरक्षा ही सब लोगों को मिल सकती है—यथार्थ में तो वह भी नहीं मिलती। यदि मनुष्य इन सिद्धांतों के जाल से और उनके पैदा किए हुए संघर्ष से अपने आपको मुक्त कर सके तो विज्ञान के सद्प्रयोग द्वारा सब लोगों को सुरक्षा और अवसर प्राप्त हो सकते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि विज्ञान से अधिक हम अपनी राजनीतिक

धारणाओं को ही नहीं समझ पा रहे हैं, और अभी तक हमने यह भी सीखा है कि किस प्रकार अपने ज्ञान और कौशल के द्वारा हम जीवन को सुखी और गौरवपूर्ण बना सकते हैं। युद्ध के अनुभव और भय से ही मनुष्यता आज आक्रांत नहीं है, कुछ ऐसी अवैयक्तिक शक्तियाँ भी हैं जो हमारे दैनिक जीवन पर छाई हुई हैं। कानून की गुलामी से भले ही उन्होंने हमें मुक्ति दे दी हो, पर परिस्थितियों का गुलाम उन्होंने हमें ज़रूर बना दिया है। यह स्थिति भयावह है। कुछ झूठे देवताओं की पूजा करने का यह परिणाम है। सीधे-सादे सुख-स्नेह-सौंदर्य की उपासना न कर उत्साही लोगों ने शक्ति (power) की पूजा की; जिन लोगों के पास कम उत्साह था उनकी भी इसमें सहमति थी—दुख के कारणों का उनके सामने गलत विवेचन रखा गया और वे ठगे गए।

जब दास-प्रथा का आविष्कार हुआ है शक्तिशाली लोगों का यह विश्वास रहा है कि दूसरों को त्रास देने से ही उनका जीवन सुखी हो सकता है। प्रजातन्त्र के विकास के साथ और राजनीति तथा अर्थशास्त्र में नैतिक मूल्यों को समाहित करने की प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे एक-एक अच्छे आदर्श की प्रतिष्ठा होने लगी और न्याय-भावना के महत्त्व को भी लोग पहले से अधिक समझने लगे। लेकिन विशद व्यवस्थाओं और पद्धतियों के द्वारा जहाँ न्याय-प्राप्ति का आयोजन है वहाँ इस बात को भूल

जाने का भय भी है कि न्याय अपने आप सब कुछ नहीं है। जीवन में आदमी को सहज गौरव का बोध हो, उसके लिए नित्य-प्रति के जीवन में उल्लास, चिंताओं से अवकाश, साहसिकता की भावना और रचनात्मक कार्यों के लिए अवसर भी न्याय के जितने ही महत्त्वपूर्ण हैं। जीवन में अटूट ऊब की उपेक्षा सुख-दुख की आँख-मिचौनी अधिक अच्छी है। जो लोग शासन-तन्त्र में सुधार लाने की योजना बनाते हैं या सामाजिक क्षेत्र में लोगों को दुख से छुटकारा दिलाने की स्कीम तैयार करते हैं वे प्रायः संकल्पनिष्ठ व्यक्ति होते हैं पर यौवन पार कर चुके होते हैं। वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि बहुत से आदमी सुख के लिए केवल काम में सहज रुचि ही नहीं वरन वैयक्तिक गर्व को भी आवश्यक समझते हैं। एक महान् विजेता के गर्व को शक्तिशाली संसार नहीं सह सकता, पर कुछ व्यक्तियों के गर्व का वह अभिनन्दन करता है, जैसे कलाकार का गर्व, वैज्ञानिक का गर्व, या ऐसे व्यक्ति का गर्व जो ऊजड़ वीरान भूमि को हरी-भरी बना देता है या दूसरों के कातर म्लान मुख पर आनन्द की मुस्कान बिखेर देता है—भले ही वह अपने दुख सहता हो। हमारी सामाजिक व्यवस्था में ऐसे व्यक्ति जितने अधिक हों उतना ही अच्छा है।

जिन आत्म-वृत्तियों ने हमारे बर्बर पूर्वजों को शिकार खेलने तथा मार-काट करने के लिए उत्तेजित किया था, उनकी

अभिव्यक्ति के लिए मार्ग होना आवश्यक है। अगर उन्हें कोई मार्ग नहीं मिला तो वे घृणा और विद्वेष में ही फूटेंगी। यों इन वृत्तियों के निकास के लिए ऐसे मार्ग हैं जिन्हें बुरा नहीं कहा जा सकता। लड़ने-कटने का स्थान खेल-कूद, प्रति-स्पर्द्धा और स्पोर्ट ले सकते हैं; शिकार का स्थान साहस, अन्वे-षण और सर्जन का आनन्द। इन वृत्तियों की न तो उपेक्षा ही करनी चाहिए और न उनके लिए दुखित ही होना चाहिए। हमारे जीवन में जो कुछ बुरा है उसके तो वे कारण हैं ही, पर जो कुछ महान् है उसके भी वे स्रोत हैं। समाज में सुरक्षा की स्थापना होने पर मानव-कल्याण के लिए प्रयत्नशील व्यक्तियों के सामने जो सब से महत्त्वपूर्ण कार्य होगा वह यह कि इन आदिम और सशक्त वृत्तियों के लिए वे केवल संयम और विकास के मार्ग ही न खोजें, पर ऐसे माग भी खोजें जिनसे मनुष्य के जीवन में आनन्द, गौरव और उत्कर्ष की वृद्धि हो।

जब से मनुष्य-जाति का आरम्भ हुआ है, इंसान को दो प्रकार की मुसीबतों का शिकार होना पड़ा है—एक वह जो बाह्य प्रकृति का प्रहार है, दूसरी वह जो किसी भयानक भ्रम में एक आदमी दूसरे आदमी पर प्रहार करता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रकृति का प्रहार मनुष्य के प्रहार से अधिक कठोर था। मनुष्य एक विरल प्राणी था और उसका रक्षण ही संकटापन्न था। न तो बंदर की उसमें फूर्ति थी, न उसके शरीर

पर रोयों का परिवेष्टन था, कैसे जंगली जानवरों से वह अपने आपको बचाता और कैसे दुनिया के कई हिस्सों में वह सर्दी का सामना करता। जीव-विकास (biology) की दृष्टि से उसे केवल दो सुविधाएँ थीं—एक तो वह सीधा खड़ा हो सकता था जिससे उसके दोनों हाथ मुक्त हो जाते थे, दूसरे उसके पास बुद्धि थी जिससे वह अपने अनुभव दूसरे पर व्यक्त कर सकता था। धीरे धीरे इन सुविधाओं ने उसे अन्य प्राणियों से श्रेष्ठता दी। उसकी जाति का अत्यधिक विकास हुआ। किन्तु प्रकृति फिर भी अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकती थी—बाढ़, मरी, अकाल के द्वारा और मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या को अपनी रोटी के लिए अटूट मेहनत करने पर बाध्य कर।

आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति के फल-स्वरूप प्रकृति का नियंत्रण हमारे ऊपर दिन पर दिन कम होता जा रहा है। अकाल और महामारी का प्रकोप आज भी होता है, लेकिन उन्हें कैसे रोका जाय, इसकी जानकारी भी प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। कठिन मेहनत करने की ज़रूरत आज भी है, लेकिन इसी-लिए कि हम बुद्धि से काम नहीं लेते—यदि देश में शान्ति हो और लोगों में सहकारिता हो तो इतने अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं होगी। विज्ञान ने हमें जो कुछ दिया है उसके

सहारे, यदि हम विवेक से काम लें, तो जब चाहें तब प्रकृति के अनेकों प्रतिबन्धों से मुक्ति पा सकते हैं।

किंतु मनुष्य एक-दूसरे को जो त्रास देता है उसमें अभी इतनी कमी नहीं आई है। आज भी युद्ध होते हैं, दमन का पाठ पढ़ा जाता है, क्रूरता का चक्र चलता है, और जो लोग दूसरों से कम चतुर हैं या कम निर्दय हैं, उनके धन पर लुब्ध बाज़ की तरह टूटा जाता है। शक्ति की भूख आज भी अत्याचार करती है और यदि अत्याचार नहीं कर सकती तो दूसरों के मार्ग में अवरोध ही पैदा कर देती है। भय—गहरा, अवचेतन भय—आज भी बहुत से लोगों के जीवन को चालित किए हुए हैं।

यह सब अनावश्यक है,—आदमी के जीवन में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसके कारण ये बुराइयाँ अनिवार्य हों। मैं एक बार फिर कह देना चाहता हूँ कि मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जो यह मानते हैं कि मनुष्य की बर्बर वृत्तियों के लिए युद्ध, विनाश और संघर्ष आवश्यक हैं। मेरा विश्वास ठीक इसके विपरीत है। मेरी धारणा है कि इन वृत्तियों का मनुष्य के जीवन में आवश्यक स्थान है, और उनके हानिकारक रूपों का बहुत बड़ा अंश दूर किया जा सकता है।

जब भूख और दरिद्रता का भय नहीं रहेगा तो अधि-करण का लोभ भी कम हो जायगा। शक्ति की लिप्सा भी

दूसरों को सताए बिना संतुष्ट की जा सकती है, जैसे अन्वेषण-अनुसंधान द्वारा प्रकृति पर प्रभुता प्राप्त कर, उत्तम पुस्तकों का रचना कर, कला का विकास कर, दूसरों में विश्वास उत्पन्न कर, स्फूर्ति की भी आवश्यकता है पर उसके लिए भी उचित मार्ग होने चाहिए—वह तो स्टीम की तरह है, रेल भी चला सकती है और बॉयलर का विस्फोट भी कर सकती है ।

प्रकृति की दासता से मुक्ति पाने के कारण आज जीवन में इतनी सुख-समृद्धि संभव है जितनी किसी समय संभव नहीं थी । किंतु इस संभावना को यदि यथार्थ होना है तो सब प्रकार की उपयोगी उत्प्रेरणा के लिए स्वतंत्रता होनी चाहिए, और उत्प्रेरणा के उन रूपों को भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए जो मनुष्य के जीवन में उत्कर्ष लाते हैं । हमें एक सुन्दर संसार का निर्माण आदमी को पालतू और भीरु बनाकर नहीं वरन् निर्भीक और साहसी बनाकर करना चाहिए—हाँ, उस साहस का यह अर्थ नहीं कि वह अपने भाइयों पर अत्याचार करे । जिस दुनियाँ में हम हैं उसमें मनुष्य के जीवन के लिए अनन्त दिव्य संभावनाएँ हैं, पर बुराइयों की संभावनाएँ भी अनन्त हैं ।

हमारे लिए सब से बड़ा संकट तो यह है कि हमने बाह्य प्रकृति की शक्तियों को तो समझ लिया है और उन पर नियंत्रण करना भी जान लिया है, किंतु अपने अन्दर की शक्तियों का संयमन करना हमें नहीं आता । नीतिवादियों के सामने सदा

आत्मसंयम का लक्ष्य रहा है। प्राचीन काल में इसकी आवश्यकता को समझना ज़रूरी नहीं था। इन व्याख्यानों में मैंने मनुष्य की आवश्यकताओं को राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रवेत्ताओं की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप में समझने-समझाने का प्रयत्न किया है, कारण तभी उन आशाओं को चरितार्थ किया जा सकता है जो विज्ञान के कारण हमारी पहुँच में हैं पर जिन पर अभी भी हमारी मूर्खता बहुत कुछ हावी हो रही है।

परिशिष्ट

सामाजिक संश्लिष्टता और मानव स्वभाव

पृ० ३. सर आर्थर कीथ—(जन्म १८६६) अंग्रेज नृ-विज्ञान-वेत्ता (*Anthropologist*)।

पृ० ६. प्रथम पाषाण-युग—इस युग का आरंभ लगभग पाँच लाख ई० पू० माना जाता है। इस समय लोग पत्थरों के केवल मोटे औज़ार तैयार कर सकते थे। द्वितीय पाषाण-युग में आकर वे उनसे तीक्ष्ण हथियार बनाने लगे।

पृ० ८. निनेवा (*Nineveh*)—असीरियन साम्राज्य की राजधानी। आधुनिक ईराक में टाइग्रिज़ नदी के पूर्वी तट पर बसा हुआ नगर। इसका पुनर्निर्माण ई० पू० ७०० में सेनाचेरिब राजा के हाथों हुआ। बेबिलोनियन, सीदियन आदि के हाथों इसका पतन ई० पू० ६१२ में हुआ। १६ मील लम्बा यह एक विशाल और समृद्ध नगर था।

बेबिलोन—बेबिलोनिया की राजधानी। बेबिलोन नाम बाबेल का ग्रीक रूपांतर है। मध्य-पूर्व की सबसे प्राचीन सभ्यता का केन्द्र। २२५० ई० पू० में यह राजधानी बना। १५ मील लम्बा और १५ मील चौड़ा यह विशाल नगर सिकन्दर के आक्रमण से कुछ पूर्व फारस वालों के द्वारा नष्ट कर दिया गया।

पृ० ६. **स्पार्टा**—प्राचीन ग्रीस का समृद्ध नगर-राज्य (*City State*)। सैनिक विजय के लिए स्पार्टा अत्यन्त प्रसिद्ध था, संस्कृति या वाणिज्य के लिए नहीं। किंतु लाइकर्जस (*Lycurgus*) ने इसके लिए जो विधान तैयार किया वह प्रशंसनीय था, और स्पार्टा आंतरिक कलह से प्रायः मुक्त था।

हेलट (*Helot*)—स्पार्टा के दास-कम्मी।

ऑरफिक (*Orphic*)—ग्रीकों का धर्म मूलतः मिशनरी नहीं था। जन्म से ही कोई व्यक्ति ग्रीक हो सकता था, धर्म-परिवर्तन से नहीं। ऑरफिक मत अल्प-संख्यकों का धर्म था। यह गुह्य, रहस्यात्मक भावना और धर्म-परिवर्तन में विश्वास करता था। गुलामों को, कम्मिओं को बराबर का अधिकार देने की दृष्टि से इसकी तुलना कुछ-कुछ बौद्ध-मत से की जा सकती है।

क्रूसेड—पैलेस्टाइन में ईसाई राज्य की स्थापना के लिए इस्लाम के विरुद्ध यूरोप के ईसाई राष्ट्रों के धर्म-युद्ध (११००-१४००)।

जिहाद्—यूरुप में कैथलिक और प्रोटेस्टैंट लोगों के धर्म-युद्ध। कैथलिकों का नेता स्पेन था। फ्राँस के ह्य जनॉट, हॉलैंड के प्रोटेस्टैंट, स्कॉटलैंड के प्रेस-बिटेरियन और जर्मनी में लूथर के अनुयायी दूसरी ओर थे। ये युद्ध १८ वीं शताब्दी के आरम्भ तक होते रहे।

धर्म-ग्रन्थ—कार्ल मार्क्स की पुस्तक दास कैपितल (*Das capital*) की ओर संकेत है।

पृ० १०. **अब्राहम लिंकन के शब्दों में**—१८६३ में गेटिस-बर्ग में दिए हुए अब्राहम लिंकन के प्रसिद्ध भाषण के शब्द।

पृ० १४. पेपुआ (ब्रिटिश न्यू गाइना)—आस्ट्रेलिया के उत्तर में एक द्वीप। यहाँ के आदिवासियों ने श्वेत महाप्रभुओं को कई बार क़त्ल किया है। १६०१ की दुर्घटना ने काफ़ी सनसनी पैदा की थी।

सामाजिक संश्लिष्टता और राज्य-शासन

पृ० २३. **स्टोनहेंज** (*Stonehenge*)—ब्रिटेन की किसी अत्यन्त प्राचीन इमारत का अवशेष। सेलिसबरी

प्लेन (*Salisbury plain*) में दस हज़ार फीट के घेरे में पाषाणों के दो विराट् वृत्ताकार समूह। लोगों की धारणा है कि वे किसी प्राचीन ड्रूइड (*Druid*) मंदिर के अवशेष हैं।

पिरामीड—मिश्र की प्राचीन सभ्यता का आश्चर्यजनक नमूना। आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष पूर्व इनका निर्माण हुआ था। ईंट या पत्थरों की ये विराट् क़ब्र हैं। इन में सब से प्राचीन मिश्र के राजा चीऑप्स (*Cheops*) द्वारा निर्मित है, जिसे बनाने के लिए बीस वर्ष तक एक लाख मज़-दूरों ने काम किया था।

पृ० २५ एक्ज़ोडस (*Exodus*)—बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट का भाग। मिश्र की ऊजड़ वीरान भूमि में यहूदियों को जो कष्ट सहने पड़े थे, उनका वर्णन इसमें मिलता है।

गॉल (*Gaul*)—आधुनिक फ्राँस। जूलियस सीज़र ने इसे जीत कर रोमन साम्राज्य का भाग बनाया था।

पृ० २६ अत्तिला—(४०६—४५३) हूणों का राजा। लूट-पाट के लिए मशहूर। यूरोप के राष्ट्र इसके नाम से काँपते थे। रोमन साम्राज्य का विध्वंस

करने में इसका बड़ा हाथ था।

चंगेज़ खाँ—(११६२—१२२७) मंगोल विजेता और बादशाह। चीन, अफ़गानिस्तान, पंजाब और नीपर नदी के तट तक रूस इसके अधीन था।

पृ० २७ **इंगलैंड, स्पेन और पुर्तगाल**—जिन ऐतिहासिक घटनाओं की ओर संकेत किया गया है वे १८ वीं शताब्दी में अमेरिका के स्वतंत्रता-संग्राम से सम्बद्ध हैं। ब्राज़ील पुर्तगाल के अधीन था, मेक्सिको, अर्जेन्टाइना, पेरू और चाइल स्पेन साम्राज्य के अन्तर्गत।

पृ० २८ *Tennesse Valley Authority*—अमेरिका के औद्योगिक विकास के लिए नदियों से आवश्यक सहायता लेने की स्कीम में प्रथम महत्त्वपूर्ण योजना। १९३३ में रूज़वेल्ट के द्वारा सम्पादित। टेनेसी नदी की भयंकर बाढ़ों को रोकने के लिए यह योजना बनाई गई। १९४९ तक इस पर ८०० मिलियन डॉलर ख़र्च हो गए। देश की समृद्धि में इसका योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तीन मिलियन व्यक्तियों के जीवन को इससे सुख-सम्पन्नता मिली है। नहरें, बाँधें, भूमि की उर्वरा-शक्ति में वृद्धि, मलेरिया पर नियंत्रण, हाइड्रो-एलेक्ट्रिक स्कीम

आदि सभी प्रयत्न इससे सफल हुए हैं।

St. Lawrence Water-way—'टेनेसी वैली ऑथारिटी' की तरह सेन्ट लारेन्स नदी से सम्बद्ध प्रस्तावित योजना। यह योजना अमेरिका के न्यू-यॉर्क स्टेट और केनाडा के ऑनटेरियो प्राँत द्वारा सम्मिलित रूप से सम्पादित होनी है।

पृ० २६ **अज़टेक और इन्का**—यूरोपियन जातियों के आक्रमण से पूर्व मेक्सिको और पेरू में स्थित साम्राज्य। मेक्सिको का अज़टेक साम्राज्य १२००—१५०० ई० में अपने उत्कर्ष पर था। स्पेन वालों ने इस साम्राज्य को विनष्ट किया। इसी प्रकार पेरू की इन्का जाति का साम्राज्य १०००—१५३२ ई० तक अत्यंत प्रभावशाली था।

पृ० ३० **फीनिशियावालो**—ईसा के दो हज़ार वर्ष पूर्व भू-मध्यसागर के पूर्वी तट पर बसी हुई समृद्ध व्यापारी जाति। इनकी सामुद्रिक शक्ति प्रबल थी।

पृ० ३२ **आगस्तस**—प्रथम रोमन सम्राट्।

जस्तीनियन—पूर्वी रोमन (बाइज़ानटाइन) साम्राज्य का प्रसिद्ध सम्राट् (४८३—५६५ ई०) अफ्रीका में वन्दलों और इटली में गॉथों को उसने हराया तथा साम्राज्य के दक्षिणी भागों की पर्शियावालों

से रक्षा की। उसके समृद्ध राज्य के बाद साम्राज्य ने सब से बुरे दिन देखे।

गॉथ—एक शक्तिशाली ट्यूटॉनिक (जर्मन) जाति। यूरोप के इतिहास में २५०—५५३ ई० तक इन का नाम आता है। रोमन साम्राज्य के ये शत्रु थे, बाद में दास। ४१० में इन्होंने रोम का विध्वंस किया।

वन्दल—गॉथों की तरह दूसरी शक्तिशाली जर्मन जाति। पाँचवीं शताब्दी में इन्होंने फ्राँस और स्पेन को पदाक्रांत किया। रोमन साम्राज्य के अफ्रीकन भागों को भी इन्होंने विजित किया। ५५० ई० तक ये भी रोमन साम्राज्य द्वारा कुचल डाले नए।

पृ० ३३ ट्यूटॉनिक—रोमन साम्राज्य के विध्वंस के बाद गॉथ, फ्रैंक, वन्दल, नॉर्मन और डेन्स लोगों ने तलवार के बल पर बड़ी-बड़ी जागीरें खड़ी कीं।

वैयक्तिकता का श्रेय

पृ० ५० पिरिनिज़—दक्षिणी-पश्चिमी यूरोप की पर्वत-श्रेणियाँ। प्रथम पाषाण-युग की गुफाएँ यहाँ मिलती हैं।

पृ० ५१ असंस्कृत समाज (*Philistine*)—आरंभ में पेलेस्टाइन के निवासी और यहूदियों के

परंपरागत शत्रु। १६ वीं शताब्दी में मैथ्यू आर्नल्ड ने इस शब्द के द्वारा इंगलैंड की वणिक जाति पर तीव्र व्यंग्य किया। आज यह शब्द ऐसे व्यक्ति का सूचक है जो केवल धन की उपासना करता है और संस्कृति तथा मानवता की उपेक्षा।

पृ० ५१ **होमर**—ग्रीस का सुप्रसिद्ध कवि। ईसा से लगभग ८५० वर्ष पूर्व इसका समय माना जाता है। इसके नाम से 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्य प्रसिद्ध हैं।

वर्जिल (७०-१६ ई० पू०)—प्रसिद्ध रोमन महाकवि। 'ईनीड' का लेखक।

आर्थर—इंगलैंड का एक वीर, उदार अर्द्ध-पौराणिक राजा। इसका समय ईसा की छठी शताब्दी माना जाता है। बहुत-सी कविताओं और ग्राम-गीतों का नायक। टेनीसन ने भी इसे नायक बनाकर कविता लिखी।

पृ० ५२ **हेनरी द्वितीय**—(११३३-८६) इंगलैंड का राजा। फ्राँस का अधिकांश भाग भी इसके अधीन था। आयरलैंड को भी इसने जीता था।

पार्थेनॉन—अथेंस में देवी अथेना का विशाल मंदिर। प्राचीन ग्रीस की स्थापत्य कला का आदर्श।

• **मध्ययुगीन गिरजे**—रोमन कैथलिक चर्च के अच्छे दिनों में बने हुए गिरजे। इनमें सब से प्रमुख रोम का सेंट पीटर्स गिरजा है।

हाईलैंड की फौज़ी टुकड़ी—स्कॉटलैंड की फौज़ी टुकड़ी में अब भी ऐसे गाने-बजाने वाले व्यक्ति मिलते हैं जिनका जीवन अपेक्षाकृत निर्द्वन्द्व है।

पृ० ५६ गास्पेल (*Gospel*)—ईसा के शिष्यों द्वारा रचित 'न्यू टेस्टामेंट' के चार अध्याय।

प्लेटो—(४२०-३४७ ई० पू०) प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक। सुकरात का शिष्य और अरस्तू का गुरु।

पृ० ५८ लावोआसिर (*Lavoisier*) १७४३-६४—प्रसिद्ध फ्रैंच केमिस्ट। क्राँतिकारी नेता मारात (*Marat*) ने इसे एक मामूली चार्ज पर फाँसी दे दी थी।

पृ० ५६ अनक्सागोरस (*Anaxagoras*) ५००-४२८ ई० पू०। ग्रीक दार्शनिक सुकरात, पेरिक्लीज़, यूरीपीडिज़ आदि इसके शिष्य थे।

पृ० ६१ जेरक्सेज (*Xerxes*)—समय लगभग ५१६—, ६४५ ई० पू०। पर्सिया का राजा। डेरियस प्रथम का पुत्र। ग्रीस को जीतने का इसने असफल प्रयास किया।

सीज़र १००—४४ ई० पू०। रोम का प्रसिद्ध विजेता।

पृ० ६२ रोबसपियेर (*Robespierre*)—१७५८–१७६४। फ्रांस की क्रांति का उत्साही नेता। अंत में इसके विरोधियों ने असेम्बली में इस गोली से उड़ा दिया और मरणासन्न अवस्था में ही उसे फाँसी के तख्ते पर लटकाया गया।

पृ० ६३ कैप्टेन किड (१६४५–१७०१)—ब्रिटिश समुद्री लुटेरा। ब्रिटिश सरकार ने १७०१ में इसे मौत की सज़ा दी।

वेनवेनुतो सेलिनी (१५००-७१)—इटलीका विख्यात सुवर्णकार और मूर्ति-निर्माता। उसने अपनी आत्मकहानी में बहुत सी रोमांचक घटनाएँ लिखी हैं। कितनी ही प्रणय-लीलाओं और दो एक हत्या-काण्डों में उसका सक्रिय हाथ रहा है। आज कला की अपेक्षा अपनी पुस्तक के कारण वह अधिक प्रसिद्ध है।

पृ० ६४ रॉकफेलर (१८३६–१९३७)—अमेरिका का प्रसिद्ध पूंजीपति। स्टैंडर्ड ऑयल कम्पनी का मालिक।

पियेरपांत मॉरगेन (१८३७–१९१३)—अपने समय का प्रसिद्ध अमेरिकन उद्योगपति और धनाढ्य।

हिब्रू संतों—प्राचीन यहूदियों के नेता, जैसे मोज़ेज़, अब्राहम, जेरेमिया।

स्पिनोज़ा (१६३२–६७)—डच दार्शनिक। यहूदी घराने में पैदा हुआ था। नास्तिक कह कर उसे जाति से निकाल दिया गया। एकांत में वह अपनी पुस्तकें लिखा करता था।

पृ० ६६ इटली के...राज्यों—एकीकरण से पूर्व १६ वीं शताब्दी तक इटली कितने ही राज्यों में बँटा हुआ था जिनमें प्रमुख थे सिसिली, नेपल्स, फ्लोरेंस, वेनिस आदि।

जर्मन राजाओं—इटली की तरह जर्मनी भी बिस्मार्क से पूर्व इसी तरह के छोटे-छोटे राज्य-खंडों में विभक्त था, जैसे प्रशा, बवेरिया, हनोवर।

जॉन सेबाश्चियन बाख—१६८५–१७५० जर्मनी का प्रसिद्ध संगीतज्ञ।

पृ० ६७ अचिलिज़—होमर के महाकाव्य 'इलियड' का प्रमुख महावीर। इसकी अद्भुत ढाल का वर्णन 'इलियड' में मिलता है।

पृ० ६८ गड़ेरिए—मिल्टन की कविता *Lycidas* में रमणीय उपत्यका में गड़ेरिए के गीत गाने का प्रसंग मिलता है।

पृ० ६६ इटली के.........पुनरुत्थान युग—यूरोप में कला के उत्कर्ष की दृष्टि से १६ वीं शताब्दी का अत्यधिक महत्त्व है। इसी काल में राफेल,

डा विन्ची, माइकेल एंजेलो जैसे प्रसिद्ध चित्रकार पैदा हुए थे।

सिएना—इटली का एक प्रांत।

टेकनिक और मानव-स्वभाव में संघर्ष

पृ० ७६ **एक्रापॉलिस** (*Acropolis*)—प्राचीन ग्रीस के प्रसिद्ध पाषाणमंदिर। इनमें सब से प्रमुख एथेंस का मंदिर है।

पृ० ८१ **अबाध नीति**—एडम स्मिथ और बैन्थेम द्वारा प्रतिपादित अर्थ-शास्त्र की एक प्रमुख नीति जिसके अनुसार व्यवसाय और उद्योग में सरकार को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उन्हें पनपने के लिए स्वतः छोड़ देना चाहिए। १९ वीं शताब्दी का पूँजीवाद इसी नीति पर आधारित था। समाजवाद और साम्यवाद इस नीति को 'जंगली क़ानून' मानते हैं।

पृ० ८३ **स्ताक्नोवाइट तरीका**—उत्पादन की वृद्धि और कर्मचारियों की योग्यता के विकास के लिए सोवियत् सरकार दक्ष कर्मचारियों को 'स्ताकानोव' पुरस्कार देती है। स्तकानोव एक फैक्टरी में कर्मचारी था; उत्पादन-कार्य में असाधारण योग्यता का परिचय देने के कारण उसे एक

राष्ट्रीय नेता की सी ख्याति मिली ।

पृ० ८५ दस धर्माज्ञाएँ (*Ten Commandments*)-
बाइबिल की धर्म-नीतियाँ ।

पृ० ८६ बैल की पूँछ—आधुनिक जीवन की प्रवंचना पर व्यंग्य । संकेत यह है कि साधारण जीवन-यापन की वस्तुएँ भी अप्राप्य होती जा रही हैं ।

पृ० ८७ स्विस राबिन्सन परिवार—एक जर्मन लेखक द्वारा रचित बच्चों की कहानी जिसमें राबिन्सन क्रूसो के अनुकरण पर एक परिवार के साहसिक कार्य-व्यापारों का वर्णन मिलता है । इनका जहाज़ एक वीरान द्वीप के किनारे टकरा कर नष्ट हो गया था ।

पृ० ६४ दास्तावेस्की—रूसी लेखक ।
बेकुनिन—रूसी आतंकवादी ।
ज़ार निकोलस-—१८२५ से १८५५ तक रूस का सम्राट्

नियंत्रण और उत्प्रेरणा

पृ० ११३ डस्ट बाउल (*DustBowl*)—भूमि पर अत्याचार होने की वजह से और उसके विदीर्णीकरण के कारण अमेरिका की बहुत सी उपजाऊ ज़मीन बंजर मरू हो गई है ।

पृ० ११६ क्वीन्सबरी नियम—मार्क्विस ऑव क्वीन्सबरी

(१८४४-१६००) द्वारा प्रतिष्ठित बाक्सिंग (*Boxing*) के नियम।

पृ० ११७ (हेनरी) कैवेंडिश (१७३१-१८१०)—ब्रिटिश रसायन शास्त्र-वेत्ता।

(माइकेल) फरादे (१७६१-१८६७)—ब्रिटिश भौतिक विज्ञान-वेत्ता।

मेंदेल (१८२२-१८८४)—आस्ट्रियन जीवशास्त्र-वेत्ता।

बीगल (*Beagle*)—वह जहाज़ जिस पर डार्विन ने विश्व-पर्यटन किया था।

पृ० १२७ अंतःसौर-मंडलीय सत्ता—एच० जी० वेल्स के उपन्यास '*War of the Worlds*' में मार्स (*Mars*) लोक में रहने वाले व्यक्तियों के पृथ्वी पर आक्रमण की कहानी मिलती है। इस प्रकार का संघर्ष होने पर 'अंतः सौरमण्लीय सत्ता' की आवश्यकता का बोध हो सकता है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११३	६	(Vogt)	Vogt
	१७	ध्यान	ध्यान देना
११७	६	स्टेट-साम्यवाद	स्टेट-समाजवाद
१२२	६	(स्थानीय स्वायत्त शासन)	स्थानीय स्वायत्त-शासन
१३४	१५	उपयोग	उपभोग
१४८	१४	ओर सत्य	ओर
	१७	अराजकता	अराजकता और
१५१	२	भी	भी नहीं
	१४	जब	जब से

मुद्रक—युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, देहली।

पशु और मानव

यह पुस्तक अंग्रेज़ी के महान लेखक व विचारक आल्डु-अस हक्सले के विश्व-विख्यात उपन्यास APE AND ESSENCE का हिन्दी रूपान्तर है। रूपान्तरकार—श्री मोहनलाल, प्रस्तावनालेखक—श्री जैनेन्द्रकुमार। मूल्य ३॥)

मूल पुस्तक ने अंग्रेज़ी-पठित जगत् में हलचल मचा दी है। लेखक ने पश्चात्य सभ्यता में गर्व करने वाले समाज के सामने संसार का वह कल्पना-चित्र उपस्थित किया है जो इसी सभ्यता के अन्तस् में उत्पन्न होने वाले महानाश के कीटाणुओं की कृपा से शायद शीघ्र ही मनुष्य के सामने आने वाला है। तीसरे महायुद्ध के पश्चात् परमाणु बम से विध्वस्त संसार का क्या रूप होगा।

पुस्तक के सम्बन्ध में जो आलोचनाएँ भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं उनमें से कुछ के संक्षिप्त उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :—

"........ऐसी पुस्तक का हिन्दी में आना अपने आप एक घटना है।......यह पुस्तक वस्तुतः वर्तमान सभ्यता पर व्यंग है और तीसरे युद्ध में परमाणु बम से ध्वस्त १५० वर्ष पीछे के संसार का भयंकर और रोमांचकारी चित्रण है।......हिन्दी अनुवाद में मूल पुस्तक का रस काफ़ी मात्रा में उतरा है।

—"साप्ताहिक हिन्दुस्तान" नई देहली।